एम.ए. पूर्वार्द्ध
राजनीति विज्ञान, तृतीय प्रश्नपत्र

तुलनात्मक राजनीति और विकासशील देशों की राजनीति

(COMPARATIVE POLITICS AND POLITICS OF DEVELOPING COUNTRIES)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल
MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University,
   Bhopal (M.P.)

4. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College,
   Bhopal (M.P.)

5. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITER

Dr Kalpana Singhal, Assistant Professor, Deptt of Political Science, Ginni Devi Modi Girls College, Modinagar
Units: (1-5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

तुलनात्मक राजनीति और विकासशील देशों की राजनीति

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम; राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम; संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम; राजनीतिक संस्कृति; राजनीतिक समाजीकरण; संविधानवाद	**इकाई 1** : राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण की तुलनात्मक पद्धतियां **(पृष्ठ 3–50)**
इकाई–2 वर्ग एवं राजनीतिक अभिजन; राजनीतिक दल; दबाव समूह; सामाजिक आंदोलन	**इकाई 2** : अभिजन वर्ग, राजनीतिक दल, दबाव समूह एवं सामाजिक आंदोलन **(पृष्ठ 51–96)**
इकाई–3 राजनीतिक विकास; उपनिवेशवाद की उत्पत्ति; उपनिवेशवाद के प्रकार	**इकाई 3** : राजनीतिक विकास, उपनिवेशवाद की उत्पत्ति एवं प्रकार **(पृष्ठ 97–121)**
इकाई–4 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष; उत्तर औपनिवेशिक राज्य; राजनीतिक नेतृत्व	**इकाई 4** : उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, उत्तर औपनिवेशिक राज्य एवं राजनीतिक नेतृत्व **(पृष्ठ 123–145)**
इकाई–5 राजनीतिक संस्थाएं; नव सामाजिक आंदोलन; लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां	**इकाई 5** : राजनीतिक संस्थाएं, नव सामाजिक आंदोलन, लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां **(पृष्ठ 147–162)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण की तुलनात्मक पद्धतियां **3–50**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम
1.3 राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम
1.4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम
1.5 राजनीतिक संस्कृति
1.6 राजनीतिक समाजीकरण
1.7 संविधानवाद
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 अभिजन वर्ग, राजनीतिक दल, दबाव समूह एवं सामाजिक आंदोलन **51–96**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वर्ग एवं राजनीतिक अभिजन
2.3 राजनीतिक दल
2.4 दबाव समूह
2.5 सामाजिक आंदोलन
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली
2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामाग्री

इकाई 3 राजनीतिक विकास, उपनिवेशवाद की उत्पत्ति एवं प्रकार **97–121**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 राजनीतिक विकास
3.3 उपनिवेशवाद की उत्पत्ति
3.4 उपनिवेशवाद के प्रकार
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, उत्तर औपनिवेशिक राज्य एवं राजनीतिक नेतृत्व **123–145**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष
4.3 उत्तर औपनिवेशिक राज्य
4.4 राजनीतिक नेतृत्व
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 राजनीतिक संस्थाएं, नव सामाजिक आंदोलन, लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां **147–162**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राजनीतिक संस्थाएं
5.3 नव सामाजिक आंदोलन
5.4 लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'तुलनात्मक राजनीति और विकासशील देशों की राजनीति' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. राजनीति विज्ञान (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

राजनीति एक मौलिक क्रिया है। यह एक स्वाभाविक क्रिया है जो प्रत्येक समुदाय, संस्था, राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन में सर्वव्यापी रूप से फैली है। समय के साथ राजनीति का अर्थ भी बदलता गया और इसका तात्पर्य राजनीतिक प्रक्रिया से लिया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी में राजनीति के संदर्भ में एक नया दृष्टिकोण अपनाया गया जिसमें राजनीतिक क्रियाओं, प्रक्रियाओं तथा विनिमय निर्माण की तुलना समान व असमान क्रियाओं से की जाने लगी। इसे ही तुलनात्मक राजनीति कहा जाने लगा।

तुलनात्मक राजनीति, राजनीतिक विज्ञान की एक पद्धति है जिसमें विश्व की राजनीतिक व्यवस्था का व्यवस्थित अध्ययन और तुलना की जाती है। इसमें विभिन्न देशों के बीच समानताओं तथा असमानताओं का विश्लेषण किया जाता है। यह राजनीतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रारूपों, प्रक्रियाओं और नियमितताओं का विश्लेषण करने में रुचि रखती है। यह स्वरूपों में बदलाव तथा इनका वर्णन करने वाले सामान्य प्रस्तावों या परिकल्पनाओं को विकसित करने का प्रयास करती है। तुलनात्मक राजनीति में विषयों की एक व्यापक श्रृंखला सम्मिलित है। इसमें एक ही बिंदु पर ध्यान केंद्रित नहीं किया जाता बल्कि विभिन्न विद्वानों द्वारा भी, विभिन्न विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। तुलनात्मक अध्ययन का विस्तार नवीन नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन का प्रयोग राजनीति के प्रारंभ से ही हो रहा है। विद्वानों द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन हेतु विभिन्न सिद्धांत एवं दृष्टिकोण प्रदान किए गए हैं।

इस पुस्तक में तुलनात्मक राजनीति और विकासशील देशों की राजनीति से संबंधित अहम पहलुओं का सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक इकाई के आरंभ में विषय–विश्लेषण से पूर्व उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' स्तंभ के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है, जिनका विवरण निम्नांकित है–

पहली इकाई राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण की तुलनात्मक पद्धतियों पर आधारित है। जिसमें राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र, संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, राजनीतिक संस्कृति, समाजीकरण एवं संविधानवाद आदि तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।

दूसरी इकाई में वर्ग, राजनीतिक अभिजन, राजनीतिक दलों, दबाव समूहों और सामाजिक आंदोलनों से संबंधित तथ्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तीसरी इकाई में तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत राजनीतिक विकास की अवधारणा, उपनिवेशवाद की उत्पत्ति, प्रकार एवं उपनिवेशवाद संबंधी सिद्धांतों की व्याख्या की गई है।

टिप्पणी

चौथी इकाई उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष पर आधारित है। इसमें उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष की प्रकृति, औपनिवेशिक राज्यों की विशेषताएं, औपनिवेशिक राज्यों के विकास के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोणों एवं राजनीतिक नेतृत्व की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है।

पांचवीं इकाई में राजनीतिक संस्थाओं, नवसंस्थावाद, नव सामाजिक आंदोलन, लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें एवं नवीन प्रवृत्तियों आदि तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में तुलनात्मक राजनीति एवं विकासशील देशों की राजनीति के कतिपय पहलुओं का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों के अध्ययन से छात्र तत्संदर्भित विषयों से भलीभांति अवगत हो सकेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्द्धन करेगी।

टिप्पणी

इकाई 1 राजनीतिक व्यवस्था दृष्टिकोण की तुलनात्मक पद्धतियां

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम
1.3 राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम
1.4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम
1.5 राजनीतिक संस्कृति
1.6 राजनीतिक समाजीकरण
1.7 संविधानवाद
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन का दृष्टिकोण एवं पद्धतियां संस्थागत, मूल्य–प्रधान, व्यक्तिपरक व दार्शनिक थीं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इन पद्धतियों और राज्य, संविधान, सरकार, कानून आदि प्रत्ययों के आधार पर राजनीतिक तुलनाओं से केवल सतही ज्ञान प्राप्त हो रहा था। विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं का उदय यूरोपीय समुदाय के राष्ट्रों के प्रभुत्व का अंत, नवोदित राज्यों की तेजी से परिवर्तित होती व्यवस्थाओं ने तुलनात्मक राजनीति के विद्वानों के समक्ष नई चुनौतियां और तुलना के विविध और व्यापक सन्दर्भ प्रस्तुत कर दिये। अतः तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों को यथार्थवादी बनाने के लिए नई अवधारणायें एवं उपागम अस्तित्व में आये। तृतीय विश्व के देशों के अध्ययन के लिए समय, स्थान और विचारधारा से मुक्त अध्ययन के दृष्टिकोणों का विकास हुआ। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक अर्थशास्त्र एवं राजनीतिक समाजशास्त्र इसी प्रकार के अध्ययन के दृष्टिकोण हैं।

प्रस्तुत इकाई में तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत विभिन्न पद्धतियों, राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, संरचनात्मक–कार्यात्मक उपागम, राजनीतिक संस्कृति एवं समाजीकरण तथा संविधानवाद आदि का अध्ययन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीति और समाजशास्त्र के परस्पर अन्तःसम्बन्धों की व्याख्या कर पाएंगे;
- राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम के उदारवादी एवं मार्क्सवादी विश्लेषण का अध्ययन कर पाएंगे;
- राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक व्याख्या को समझकर आल्मण्ड के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा एवं प्रकार तथा उसके निर्माणकारी तत्वों की व्याख्या कर पाएंगे;
- राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरणों एवं उसके महत्व का वर्णन कर पाएंगे;
- संविधानवाद के अर्थ, आधार एवं संविधानवाद की विभिन्न अवधारणाओं को परिभाषित कर पाएंगे।

1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम

राजनीतिक समाजशास्त्र ऐसा विषय है जो राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के परस्पर प्रभाव का अध्ययन करता है। इसकी विषयवस्तु इन दोनों विषयों के विचार–क्षेत्र में आती है। सामाजिक प्रणाली एक विस्तृत व्यवस्था है और राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक उपव्यवस्था है। अतः राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के परस्पर संबंध, परस्पर क्रिया और परस्पर प्रभाव का पता लगाने की कोशिश की जाती है। यह समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान के अंतर्विषयक अध्ययन का क्षेत्र है।

समाजशास्त्री इस विषय को समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हुए यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि राजनीतिक विषयों का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। अभिजन वर्ग का विश्लेषण, राजनीतिक दलों और दबाव समूहों का सामाजिक आधार, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का सामाजिक प्रभाव, राजनीतिक सहमति और मतभेद और उनके सामाजिक कारणों इत्यादि का विश्लेषण किया जाता है।

राजनीतिक वैज्ञानिक इस विषय को राजनीति विज्ञान की एक शाखा मानते हुए सामाजिक जीवन के उन पक्षों के विश्लेषण का प्रयास करते हैं जिनसे राजनीतिक घटनायें प्रभावित होती हैं एवं जिनसे उनकी व्याख्या करने में मदद मिलती है। जैसे मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक, क्रान्ति, गृहयुद्ध और राजनीति में हस्तक्षेप के सामाजिक कारणों इत्यादि को सामाजिक जीवन में ढूंढ़ने और उनका विश्लेषण का प्रयास करते हैं।

टिप्पणी

अतः राजनीतिक–समाजशास्त्र के क्षेत्र में आकर समाजशास्त्री और राजनीतिक वैज्ञानिक एक जैसी समस्याओं का अध्ययन करने लगते हैं और उनके अनुसंधान और खोज विषयों में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं रह जाता।

राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम की विशेषताएं

इस उपागम की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. इसमें राजनीतिक व्यवस्था को समाज की एक उपव्यवस्था माना जाता है।
2. राजनीतिक परिप्रेक्ष्य पर सामाजिक संगठनों एवं सामाजिक प्रक्रिया के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।
3. इन आधारों पर विभिन्न देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं की तुलना की जाती है।
4. इस उपागम के फलस्वरूप राजनीति विज्ञान में अनेक नवीन अवधारणायें सामने आई थीं जैसे राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण राजनीतिक संस्कृति इत्यादि।
5. वस्तुतः मतदान व्यवहार व जनमत के प्रभाव का अध्ययन भी इसी उपागम की देन है।
6. तुलनात्मक राजनीति–विश्लेषण के क्षेत्र में राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम का प्रयोग करते समय मुख्यतः शक्ति के वितरण के सामाजिक आधार पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। सामाजिक जीवन में जो लोग प्रभुत्वशाली होते हैं, वही लोग राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने लगते है।

राजनीतिक–समाजशास्त्र उपागम का विकास

इस उपागम के प्रारम्भिक संकेत तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन की शुरुआत से ही देखने को मिलते हैं। प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू की पॉलिटिक्स को इस उपागम की प्रारम्भिक महत्वपूर्ण कृति माना जाता है। इस पुस्तक में अरस्तू ने नागरिकता, सम्पत्ति, क्रान्ति विभिन्न विषयों का विश्लेषण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में किया है। मांटेस्क्यू और फ्रांसीसी दार्शनिक टाकविले इत्यादि के विश्लेषण भी राजनीतिक समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र में आते हैं, हालांकि उन दिनों इस विषय की कोई स्वतंत्र पहचान स्थापित नहीं हो पाई थी। कार्ल–मार्क्स (1818–83) और उसके सहयोगियों ने समाज की वर्ग संरचना का विश्लेषण श्रमिक वर्ग व पूंजीपति वर्ग के रूप में किया और उसके राजनीतिक–आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किये।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मन समाज वैज्ञानिक मैक्स वेबर (1864–1920) ने शक्ति, सत्ता, वैधता व औचित्यपूर्णता की अवधारणा का प्रतिपादन किया।

मैक्स वेबर ने यह तर्क दिया था कि समाज में शक्ति के प्रभावशाली प्रयोग के लिए शक्ति के साथ वैधता का होना जरूरी है। वैधता के कारण ही शक्तिशाली व्यक्ति के आदेशों को दूसरा व्यक्ति स्वेच्छा से स्वीकार करता है। मैक्स वेबर ने तीन तरह की सत्ता का प्रतिपादन किया।

(क) **परम्परागत सत्ता**– इसका आधार परम्परागत रूप से प्राप्त शक्ति है जैसे वंश परम्परा से प्राप्त शक्ति।

टिप्पणी

(ख) **करिश्माई सत्ता**– इसके अन्तर्गत प्राप्त शक्ति का प्रयोग नेतृत्वकर्ता अपने करिश्माई व्यक्तित्व के कारण करता है, जैसे महात्मा गांधी, नेल्सन मंडेला इत्यादि व्यक्तियों का महान व्यक्तित्व।

(ग) **कानूनी तर्कसंगत सत्ता**– इस प्रकार की शक्ति एवं सत्ता पद में निहित होती है जैसे प्रधानमंत्री का पद, राष्ट्रपति का पद। अधिकारीगण अपनी सत्ता अपने पद से प्राप्त करते हैं।

रॉबर्ट मिशेल्स (1876–1936), विलफ्रेडो परेटो (1848–1923), गिटेनो मोस्का (1858–1941) और इमाइल दुर्खीम (1858–1917) जैसे समाजशास्त्रियों ने अपने समाजशास्त्रीय अनुसंधान के अन्तर्गत राजनीतिक विश्लेषण को भी उपयुक्त स्थान दिया है।

परेटो और मोस्का ने अभिजन वर्ग के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, इसको विशिष्ट वर्गवाद का सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में दो वर्ग पाये जाते हैं।

1. **अभिजन वर्ग या विशिष्ट वर्ग**– जो अपनी असाधारण क्षमता, गुणों के कारण समाज में प्रभावशाली स्थान प्राप्त कर लेते हैं।
2. **जनसाधारण या जनपुंज**– जनसाधारण के अन्तर्गत सामान्य जन आते हैं जो अभिजन वर्ग के आदेशों का पालन करते हैं और जिनमें नेतृत्व की क्षमता नहीं होती। अभिजनवादी सिद्धान्त के अनुसार किसी राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत शक्ति के सामाजिक आधार का पता लगाने के लिए वहां के अभिजन वर्ग की संरचना पर ध्यान देना चाहिये।

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अनेक अध्ययनकर्ताओं जैसे ग्राहम वालेस ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' तथा आर्थर बेण्टले ने 'द प्रॉसेस ऑफ गवर्नमेंट' में अपने समाज वैज्ञानिक अनुसंधान के अन्तर्गत राजनीतिक विश्लेषण को उपयुक्त स्थान दिया है। इन दोनों रचनाओं के अन्तर्गत राजनीति के सामाजिक आधार का पता लगाने का प्रयास किया गया है। इन पुस्तकों में राजनीति से जुड़ी अनौपचारिक प्रक्रियाओं पर विशेष ध्यान दिया गया था।

ग्राहम वालेस का मुख्य निष्कर्ष यह था कि राजनीतिक प्रक्रिया को समझने के लिए हमें मानव व्यवहार के बारे में अपने मनमाने एकपक्षीय निर्णय नहीं लेने चाहिये बल्कि यह पता लगाना चाहिये कि लोग विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियों में वस्तुतः कैसा व्यवहार करते हैं?

आर्थर बेण्टले ने मूलतः यूरोप में एक समाज वैज्ञानिक के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त किया था परन्तु आगे चलकर अपने अमरीका में आधुनिक राजनीति विज्ञान के अग्रदूत के रूप में ख्याति अर्जित की। उसने समाजशास्त्र की सहायता से उन समूहों के अनौपचारिक व्यवहार का विश्लेषण जो राजनीतिक गतिविधि के साथ जुड़े थे। अतः उसने राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों राजनीतिक दलों, चुनावों और लोकमत की भूमिका पर विशेष बल दिया। बेण्टले का मुख्य निष्कर्ष यह था कि राजनीति के उचित अध्ययन के लिए इसके साथ जुड़े हुए अनौपचारिक समूहों के व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

टिप्पणी

इसके बाद कुछ अमेरिकी राजनीतिक–वैज्ञानिकों ने तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में समाजशास्त्र उपागम के प्रयोग में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अमरीका समाजशास्त्री फ्रैकलिन गिडिंग्स (1855–1931) ने बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में अपने विद्यार्थियों को मतदान व्यवहार का अनुभवपरक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

चार्ल्स मेरियम (1874–1953) ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'न्यू आस्पैक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' और हेरल्ड लासवेल ने अपनी रचना 'पालिटिक्स : हू गैट्स ह्वाट, ह्वैन हाऊ?' के अन्तर्गत समाज विज्ञान की दृष्टि से राजनीतिक शक्ति के विश्लेषण का प्रयास किया।

तुलनात्मक राजनीति में इस नये उपागम का प्रयोग मुख्यतः 1945 के बाद शुरू हुआ और राजनीति के अंतर्विषयक अध्ययन को बढ़ावा दिया।

राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम का आलोचनात्मक मूल्यांकन

विभिन्न आलोचकों ने कई आधारों पर इस उपागम की आलोचना की है–

(1) कुछ आलोचकों का मानना है कि इस उपागम ने राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र पर निर्भर बना दिया है। यह उपागम राजनीतिक गतिविधियों और संस्थाओं पर सामाजिक प्रभाव को स्वीकार करता ही करता है। शासन की नीतियां, कार्यक्षमता और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। इस दृष्टिकोण को अपना लेने पर राजनीति विज्ञान एक स्वायत्त विषय नहीं रह पाता।

(2) कुछ आलोचक यह मानते हैं कि राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम राजनीतिक प्रणाली के आगत तत्वों से जुड़ी संरचनाओं जैसे राजनीतिक दल, दबाव समूहों पर भी ध्यान केन्द्रित करता है, निर्गत तत्वों से जुड़ी संरचनाओं– जैसे कि विधानमण्डल, कार्यपालिका, न्यायपालिका पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता। परिणामस्वरूप यह राजनीतिक प्रणाली के उन्हीं पक्षों की जांच करता है जिनका परिमाणन किया जा सकता है। इससे राजनीतिक विश्लेषण में आत्मनिष्ठ विश्लेषण की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती और राजनीतिक गतिविधि एक यान्त्रिक प्रक्रिया बन जाती है और मूल्य निर्णय से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता।

(3) जब हम राजनीति के कानूनी–औपचारिक ढांचे को कम महत्वपूर्ण मानकर उसे अपने अध्ययन से अलग कर देते हैं तो हमारे अध्ययन से हमें संस्था निर्माण और संवैधानिक इंजीनियरी में कोई सहायता नहीं मिलती।

राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम का महत्व

आज तुलनात्मक राजनीतिक औपचारिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर अनौपचारिक संगठनों और प्रक्रियाओं को समझने के लिए प्रयासरत है, इसलिए समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य तुलनात्मक राजनीति का अपरिहार्य भाग बन चुका है। राजनीतिक समाजशास्त्रीय का महत्व हम निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत देख सकते हैं–

टिप्पणी

1. तुलनात्मक राजनीति के समाजशास्त्र उपागम ने राजनीति के अंतर्विषयक अध्ययन को बढ़ावा दिया है।
2. इस उपागम ने राजनीति के साथ जुड़ी हुई अनौपचारिक प्रक्रियाओं पर ध्यान देकर तुलनात्मक राजनीति को कानूनी–औपचारिक ढांचे से बाहर निकलकर राजनीति को प्रभावित करने वाले यथार्थवादी तत्वों को समझने में मदद की है।
3. इस उपागम ने अनुभवमूलक पद्धति के प्रयोग को बढ़ावा दिया है। अनुभवपरक दृष्टिकोण से आधार सामग्री को संकलित करना और उसके आधार पर सिद्धान्तों को विकसित करने में राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।
4. राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम के माध्यम से राजनीति एवं समाज के परस्पर संबंधों एवं एक दूसरे पर प्रभाव को समझने में सहायता मिली। राजनीति में जातिवाद, अपराधीकरण, हिंसात्मक राजनीति जैसी समस्याओं को समझने एवं उनके समाधान में यह उपागम महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है।
5. राजनीति का एक कार्य सार्वजनिक निर्णयों तक पहुंचना है। ये निर्णय तभी प्रभावशाली हो सकते हैं जब संबंधित समूहों की सामाजिक प्रेरणाओं को ध्यान में रखा जाये। किसी भी सामाजिक कार्रवाई का संभावित प्रत्युत्तर क्या होगा और उसकी सफलता की कितनी संभावनायें हैं–यह निश्चित करने के लिए लोगों की मूल्यों, परम्पराओं, अभिवृत्तियों, स्वभाव, मान्यताओं और पूर्वाग्रहों की जानकारी जरूरी होती है। इस प्रयास में राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम विशेष रूप से सहायक होता है।

अतः राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम की विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद भी इसके महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तुलनात्मक राजनीति के वैज्ञानिक, अन्तः अनुशासन, यथार्थवादी विश्लेषण में इस उपागम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. न्यू आस्पैक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स किस विचारक की रचना है?

   (क) डेविड ईस्टन (ख) आर्थर वेण्टले

   (ग) ग्राहम वालेस (घ) चार्ल्स मेरियम

2. राजनीति में समूहों के अध्ययन पर बल किस विद्वान ने दिया?

   (क) लासवेल (ख) परेटो

   (ग) आर्थर बेण्टले (घ) मैक्स वेबर

3. सत्ता के तीन प्रकारों का विवेचन किस विद्वान ने किया है?

   (क) अरस्तू (ख) रॉबर्ट मिशेल्स

   (ग) मैक्स वेबर (घ) मोस्का

टिप्पणी

1.3 राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम

उपागम अध्ययन की वह शाखा है जिसमें राजनीतिक विश्लेषण के लिए आर्थिक तत्वों की भूमिका पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। इसके अन्तर्गत आर्थिक जीवन पर राजनीतिक निर्णयों के प्रभाव की जांच की जाती है। इसमें उन संकल्पनाओं का प्रयोग और व्याख्या की जाती है जो मनुष्य की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की गतिविधियों पर समान रूप से लागू होती है, जैसे कि संसाधनों का आवंटन, मांगें, लागतें, उपयोगिता इत्यादि।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में इतना गहरा संबंध है कि प्रारम्भिक लेखक अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की शाखा मानते थे। प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने राजनीति पर जो पुस्तक लिखी उसका नाम अर्थशास्त्र है। अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' तथा लाक की पुस्तक 'नागरिक प्रशासन पर द्वितीय लेख' में उन विषयों का विवेचन मिलता है जिन्हें आजकल अर्थशास्त्र के विषय माना जाता है।

वास्तव में अर्थशास्त्र का प्रारम्भ राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ हुआ था। इसके अन्तर्गत मुख्यतः सरकार और राष्ट्र के प्रबन्ध का अध्ययन किया जाता था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धीरे–धीरे इसने अपने आपको राजनीतिक सिद्धान्त से पृथक कर लिया और अहस्तक्षेप की नीतियों को अपनाकर वस्तुओं की कीमतों और बाजार की प्रवृत्तियों पर ध्यान देना शुरू कर दिया। इस सन्दर्भ में अर्थशास्त्र ने मांग, पूर्ति, प्रतिस्पर्धा, निवेश, उपयोगिता, लागत, लाभ, आयोजन विकास इत्यादि के संबंध में महत्वपूर्ण नियम एवं सिद्धान्त स्थापित किये परन्तु बाद के दशकों में अनुभव किया गया कि आर्थिक प्रणाली को केवल बाजार की शक्तियों और खुली प्रतिस्पर्धा के सहारे छोड़ देने पर सामाजिक अन्याय बढ़ जाता है, समाज में तनाव और संघर्ष का वातावरण बन जाता है। निर्धन और दीन–हीन वर्गों का शोषण होने लगता है। इससे आर्थिक गतिविधियों के नियमन की आवश्यकता अनुभव की गई और अर्थव्यवस्था को सार्वजनिक नियन्त्रण में रखने के विचार को महत्व दिया जाने लगा। अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की परस्पर अभिरुचि ने राजनीतिक अर्थशास्त्र को नये रूप में विकसित किया। राज्य जब योजना–निर्माण के क्षेत्र में कदम रखता है या कल्याणकारी राज्य के रूप में नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा का दायित्व संभालता है, शिक्षा पोषण, स्वास्थ्य इत्यादि के दायित्व संभालता है तब अर्थशास्त्र की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था उपागम के अन्तर्गत तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के दो मुख्य प्रतिरूप हैं–(1) उदारवादी विश्लेषण (2) मार्क्सवादी विश्लेषण।

उदारवादी विश्लेषण

एडम–स्मिथ के चिन्तन में राजनीतिक अर्थशास्त्र के उदारवादी दृष्टिकोण का सर्वोत्तम वर्णन देखने को मिलता है। एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति "इंक्वायरी इंटू द नेचर एण्ड कॉजेस ऑफ द वैल्थ आफ नेशन्स" के अन्तर्गत इस विषय पर नये ढंग से विश्लेषण किया। स्मिथ के चिन्तन में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि कोई आर्थिक नीतियां नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से कितनी उपयुक्त हैं।

टिप्पणी

तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषण के एक उपागम के रूप में उदारवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राजनीतिक और आर्थिक गतिविधि के बीच संबंधों को खोजा जाता है। चार्ल्स–लिंडब्लोम ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स एण्ड मार्केट्स' के अन्तर्गत यह माना है कि विश्व की सभी राजनीतिक प्रणालियों में अधिकांश राजनीतिक अपने आप में अर्थशास्त्र भी है, और अधिकांश अर्थशास्त्र राजनीति भी है।

उदारवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो सामन्तवाद के पतन के उपरान्त राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरूप ढालने के लिए अस्तित्व में आया। प्रारम्भ में उदारवादियों ने राजनीति के केन्द्र बिन्दु के रूप में अपना ध्यान व्यक्ति पर केन्द्रित किया परन्तु बाद में बहुलवादी प्रभाव के कारण इसने राजनीति में समूहों की भूमिका को महत्व प्रदान करना शुरू कर दिया। उदारवाद का प्रारम्भ अहस्तक्षेप की नीति से हुआ और परिवर्तित परिस्थितियों में लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त में उसका विलय हो गया। 18वीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का व्यापक प्रचार तथा प्रसार हुआ। इस स्थिति में स्वतन्त्र तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक पूंजीवाद के उदय एवं विकास के लिए सामान्य परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं, परन्तु उत्पादन के साधन से वंचित सर्वहारा वर्ग में अत्यधिक निराशा तथा परेशानी के भाव होने के कारण यह अनुभव किया जाने लगा कि अहस्तक्षेप की नीति, जिसका समर्थन एडम स्मिथ जैसे विचारकों ने किया था कि वाणिज्य की वृद्धि से स्वतन्त्रता की वृद्धि तथा स्वतन्त्रता की वृद्धि से वाणिज्य की वृद्धि होती है और अधिकतम समृद्धि के लिए वाणिज्य का निर्बाध संचालन अनिवार्य है, के स्थान पर राज्य का उचित संचालन न केवल आवश्यक है, वरन अपरिहार्य भी है। अतः समाज में निर्धन–गरीब वर्गों के उत्थान तथा कल्याण के लिए राज्य के द्वारा कानूनों का निर्माण किया जाने लगा।

इसके अन्तर्गत राजनीति की उन परिभाषाओं को विशेष मान्यता दी जाती है। जिनमें चयन, निर्णयन, इच्छित वस्तुओं के लिए प्रतिस्पर्धा इत्यादि को प्रमुखता दी जाती है। राजनीतिक प्रक्रिया को विनिमय की प्रक्रिया माना जाता है। चुनाव को बाजार की स्थिति के रूप में देखा जाता है और वोट को मुद्रा के समान समझा जाता है जिसके बदले में मनचाही नीतियां और कार्यक्रम प्राप्त किये जा सकते हैं। 'खेल सिद्धान्त' इसी का एक उदाहरण है। इस उपागम के विकास में एंथनी डाउन्स (एन इॅकोनामिक थ्योरी ऑफ डेमाक्रेसी : लोकतन्त्र का आर्थिक सिद्धान्त), जे. बुकेनन और जी. टल्लॉक (द कैल्कुलस ऑफ कंसेंट : सहमति का गणना शास्त्र), एम. ओल्सन (द लॉजिक ऑफ क्लैक्टिव एक्शन : सामूहिक कार्रवाई का तर्कशास्त्र) का विशेष योगदान रहा है।

मार्क्सवादी विश्लेषण

कार्ल मार्क्स और उसके अनुयायियों ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के उदारवादी दृष्टिकोण को चुनौती देते हुए यह तर्क रखा कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अन्तिम रूप से प्रमाणित व्यवस्था नहीं है। उत्पादन के साधनों और उत्पादन की शक्तियों के विकास के साथ–साथ उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होते हैं। पूंजीवाद एक विशेष युग की उत्पादन प्रणाली है। ये हमेशा अस्तित्व में नहीं रहेगी बल्कि अपने अंतर्विरोधों के कारण समाप्त हो जायेगी।

टिप्पणी

मार्क्स के अनुसार किसी भी देश और युग की राजनीति वहां की अर्थव्यवस्था के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है। राजनीति के संबंध में मार्क्सवादी विश्लेषण इस प्रकार है–

1. समाज के सदस्य अलग–अलग व्यक्तियों के रूप में अपने हित साधन के उद्देश्य से नागरिक समाज का संगठन करते हैं। नागरिक जीवन ही समाज के सदस्यों को आपस में बांधने वाला सूत्र है, राजनीतिक जीवन नहीं।
2. मार्क्स ने सामाजिक जीवन की संरचना में आधार और अधिरचना में अन्तर बताया है। समाज की आर्थिक संरचना इसकी नींव है और कानूनी तथा राजनीतिक संरचना उसका ऊपरी ढांचा है। उत्पादन को शक्तियों के विकास के साथ–साथ समाज का वर्ग चरित्र बदल जाता है और इससे उसकी राजनीति का चरित्र भी बदल जाता है। पूंजीवाद समाज होगा और पूंजीपति वर्ग प्रभावशाली होगा और उत्पादन के साधन उसके हाथ में होंगे और राजनीति के द्वारा वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति करेंगे।
3. मार्क्स और एंजेल्स ने राजनीति को क्रान्तिकारी कार्यक्रम के मार्गदर्शक के रूप में भी देखा। उनके अनुसार पूंजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत मजदूरी प्रथा मजदूरों के शोषण का मूल कारण है अतः मजदूर को अपना शोषण करने वाले बुर्जुवा वर्ग का मुकाबला करने के लिए अपना क्रान्तिकारी संगठन बनाना चाहिये।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्तमान युग में मुक्त व्यापार या वाणिज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को बढ़ावा नहीं देता बल्कि ऐसी वर्ग संरचना को जन्म देता है जिसमें श्रमिक वर्ग पर पूंजीपतियों का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वापस लाने के लिए इस वर्ग संरचना को ध्वस्त करना जरूरी है।

पराश्रितता सिद्धान्त के नवमार्क्सवादी प्रवर्तकों ने यह विचार रखा कि समकालीन विश्व के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आड़ में तीसरी दुनिया में देशों पर पूंजीवादी देशों का प्रभुत्व बना हुआ है जो पूंजीवादी वर्ग–संरचना को एक नया स्वरूप प्रदान करता है। इस आधिपत्य के स्वरूप का विश्लेषण और इसकी समाप्ति के उपाय ढूंढ़ना भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के चिन्तन का विषय है।

अतः राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम के अन्तर्गत उदारवादी और मार्क्सवादी दोनों दृष्टिकोणों में राजनीति अर्थशास्त्र के परस्पर संबंधों की विवेचना भिन्न–भिन्न परिप्रेक्ष्य से की गई है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किस सिद्धान्त के द्वारा किया गया?

(क) प्रारम्भिक उदारवाद (ख) मार्क्सवाद

(ग) समाजवाद (घ) उपयोगितावाद

5. एंथनी डाउन्स द्वारा लिखित पुस्तक है–

(क) ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स (ख) द प्रोसेस ऑफ गवर्नमेण्ट

(ग) एन इकोनामिक थ्योरी ऑफ डेमोक्रेसी

(घ) द लॉजिक ऑफ क्लैक्टिव

6. श्रमिक वर्ग और पूंजीपति वर्ग के परस्पर संबंध किस विचारधारा के विश्लेषण के केन्द्र बिन्दु हैं–

(क) मार्क्सवाद (ख) व्यक्तिवाद

(ग) पूंजीवाद (घ) सामुदायिकतावाद

1.4 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण या उपागम राजनीति विज्ञान में समाजशास्त्र से आया है। यद्यपि इसका प्रयोग मानवशास्त्र में इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ही होने लगा था किन्तु राजनीति विज्ञान में इस प्रकार उपागम का प्रयोग व्यवस्था विश्लेषण की अवधारणा के प्रचलन के बाद अधिक लोकप्रिय हुआ। व्यवस्था विश्लेषण की अवधारणा के प्रचलन के बाद अधिक लोकप्रिय हुआ। व्यवस्था विश्लेषण का एक मॉडल ईस्टन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसको सामान्यतया राजनीतिक व्यवस्था का निवेश–निर्गत मॉडल कहा जाता है। व्यवस्था विश्लेषण का दूसरा मॉडल आल्मण्ड के द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा इसको राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक व्याख्या कहा जाता है। अतः संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम व्यवस्था विश्लेषण का एक विशिष्ट रूप में प्रयोग है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में परिभाषित किया है। किन्तु प्रमुख अवधारणा राजनीतिक व्यवस्था की ही रहती है इसलिए इसे तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्था विश्लेषण के अन्दर ही दूसरा उपागम माना जाता है।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक का अर्थ

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक विश्लेषण दो प्रत्ययों के प्रयोग पर आधारित है। पहला प्रत्यय संरचना का है, दूसरा प्रत्यय 'प्रकार्य' का है। अतः संरचनात्मक प्रकार्यात्मक का अर्थ इन दो प्रत्ययों का प्रयोग करके समझा जा सकता है।

प्रकार्य का अर्थ– प्रकार्य का अभिप्राय उन क्रिया प्रतिमानों से है जो राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने, उसे विकसित करने तथा नियमित रूप से उसमें घटित होते रहते हैं।

रॉबर्ट सी. बोन ने इसकी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है– एक प्रकार्य व्यवस्था को बनाये रखने और उसको विकसित करने के लिए किया जाने वाला ऐसा क्रिया प्रतिमान है जो नियमित रूप से होता है। हर राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के साथ विकार्य स्वतः ही सम्पादित होते रहते हैं। विकार्यों से अभिप्राय उन कार्यों से है जो

टिप्पणी

व्यवस्था के अस्तित्व और विकास के लिए घातक होते हैं। प्रकार्य का अर्थ संदर्भ सापेक्ष ही कहा जा सकता है। एक स्थिति में एक प्रकार्य उससे भिन्न स्थिति में विकार्य बन सकता है।

मर्टन ने प्रकार्य उन पर्यवेक्षणीय परिणामों को कहा है जो राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूलन और समायोजन में सहायक होते हैं। इसके विपरीत विकार्य राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूलन और समायोजन को कम करने वाली प्रक्रियायें हैं।

तुलनात्मक राजनीति में उन्हीं क्रियाओं को प्रकार्य कहा जाता है जिनमें निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

1. क्रिया राजनीतिक व्यवस्था की अनुरक्षक या उसे बनाये रखने वाली हो।
2. क्रिया राजनीतिक व्यवस्था को विकसित करने वाली हो।
3. क्रिया नियमित रूप से घटित होने वाली हो।

संरचना का अर्थ– संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम में दूसरा महत्वपूर्ण प्रत्यय 'संरचना' का है। राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों के निष्पादन करने वाली व्यवस्थाओं को संरचना कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में प्रकार्यों को जिन व्यवस्थाओं के द्वारा सम्पन्न किया जाता है उस व्यवस्थात्मक संगठन को संरचना कहते हैं। अतः कोई संगठन प्रकार्य विशेष का निष्पादन करने पर ही संरचना कहा जायेगा। विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका अपने विशिष्ट सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन करने पर ही संरचना कहलायेंगी। इस संबंध में यह बात महत्वपूर्ण है कि एक संरचना केवल एक प्रकार्य तक सीमित रहती हो यह आवश्यक नहीं है। एक ही प्रकार्य अनेक संरचनाओं के समूह के द्वारा निष्पादित हो सकता है। इसी तरह एक ही संरचना अनेक प्रकार्य निष्पादित कर सकती है। इससे इस बात का खण्डन हो जाता है कि एक संरचना या हर संरचना द्वारा अनिवार्यतः सुनिश्चित प्रकार्य सम्पादित होता है।

डॉ. एस.पी. वर्मा के अनुसार, इस अध्ययन दृष्टिकोण में मुख्यतः तीन प्रश्न अन्तर्निहित है–

1. किसी व्यवस्था में कौन से आधारभूत प्रकार्य पूरे किये जाते हैं।
2. यह प्रकार्य किन संरचनाओं के द्वारा पूरे किये जाते हैं।
3. यह प्रकार्य किन परिस्थितियों में पूरे किये जाते हैं।

इस तीन प्रश्नों के उत्तर में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण संरचनाओं और प्रकार्यों के प्रत्ययों को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करके राजनीति के सामान्य सिद्धान्त के निर्माण का प्रयास करता है।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति– संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति जीव तथा यान्त्रिक विज्ञानों में हुई। सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत सर्वप्रथम मानव विज्ञान में इसका प्रयोग किया गया, बाद में टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) तथा मरियन लेवी (Marion Levy) द्वारा इसे समाजशास्त्रीय विश्लेषण में साधन के तौर पर विकसित किया गया। आधुनिक तुलनात्मक राजनीतिक

टिप्पणी

विश्लेषण में संरचना–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण को राजनीति वैज्ञानिकों विशेषकर गैब्रियल आल्मण्ड (Gabriel Almond) तथा उसके सहयोगियों द्वारा विशेषकर पारसन्स तथा लेवी के साथ मिलकर विकसित किया गया। आल्मण्ड (Almond) तथा कोलमैन (Coleman) ने अपनी रचना 'The Politics of Development Area' में इस दृष्टिकोण का प्रयोग गैर–पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए किया। छः वर्ष पश्चात् आल्मण्ड ने बिंघम पावेल के साथ मिलकर अपनी रचना 'Comparative Polities : A developmental Approach' प्रकाशित की। इसमें उन्होंने राजनीतिक व्यवस्थाओं के, उनके राजनीतिक विकास के स्तर के अनुसार, अध्ययन तथा वर्गीकरण के लिए तैयार किये गये संरचना–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के बहुत से समर्थक एवं व्याख्याकर्ता हैं लेकिन उनमें से सबसे महत्वपूर्ण स्थान आल्मण्ड को प्राप्त हैं।

संरचना–प्रकार्यात्मक उपागम की विशेषतायें

इस उपागम की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं–

(1) **विश्लेषण की इकाई के रूप में सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर बल**– इस उपागम में विश्लेषण की इकाई के रूप में सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर बल दिया है। आल्मण्ड संरचनाओं और प्रकार्यों को विश्लेषित करने में राजनीतिक व्यवस्था को आधार रखता है। आल्मण्ड ने उन सब संरचनाओं पर ध्यान केन्द्रित किया है जो राजनीतिक व्यवस्था को विशेष प्रकृति प्रदान करती है।

(2) **व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए विशिष्ट कार्यों की शर्त का प्रतिपादन**– संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम में इस बात पर बल दिया जाता है कि राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए व्यवस्था की संरचनाओं के द्वारा कुछ कार्य या विकार्य अवश्य सम्पादित होने चाहिये अन्यथा राजनीतिक व्यवस्था बनी नहीं रह सकती। इस सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि यहां संरचनाओं की समानता मौलिक नहीं है किन्तु व्यवस्था के स्वस्थ रहने के लिए प्रकार्यों का एक सा निष्पादन अनिवार्य है। उदाहरण के लिए किसी राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापन कार्य किस संरचना के द्वारा किया जाता है, यह तथ्य विशेष महत्व नहीं रखता, किन्तु इस बात का महत्व होता है कि व्यवस्था के बने रहने के लिए व्यवस्थापन कार्य का किसी न किसी संरचना के द्वारा निष्पादन अनिवार्यतः हो।

(3) **व्यवस्था की विविध संरचनाओं में प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता**– यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान संरचनाओं की प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता के आधार पर व्याख्या करता है। इसका यह अर्थ है कि परिवर्तित परिस्थितियों में कोई अन्य संरचना वह कार्य करती है जो इससे पहले किसी अन्य संरचना के द्वारा किया जाता था तो वह संरचनात्मक परिवर्तन प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता के रूप में परिभाषित किया जाता है। इससे राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मक शक्तियों को खोजना आसान हो जाता है।

(4) **संरचनात्मक प्रतिस्थापन्नता की मान्यता**– इस उपागम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इस बात में निहित है कि इसमें संरचनात्मक–प्रतिस्थापन्न की बात को

स्वीकार किया गया है। यह उपागम इस बात को स्वीकार करता है कि किसी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक रूप से कुछ प्रकार्य निष्पादित होते हैं, एक सी मानने के बजाय, अलग–अलग व्यवस्थाओं में उनमें अन्तर व विविधता की बात को स्वीकार करता है। इसके पीछे आधारभूत मान्यता यह है कि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में सांस्कृतिक अन्तर संरचनाओं में भी अनिवार्य बना देता है। अतः लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में जो कार्य एक संरचना द्वारा निष्पादित होता है। साम्यवादी शासन व्यवस्था में किसी अन्य संरचना के द्वारा पूरा किया जा सकता है। आल्मण्ड यह मानते हैं कि हर व्यवस्था में सांस्कृतिक व्यवस्थायें पाई जाती हैं। इस कारण संस्कृति विशेष के अनुसार संरचनाओं में अन्तर हो सकते हैं।

(5) **प्रकार्यात्मक और विकार्यात्मक संरचनाओं को मान्यता**– संरचनायें हर समय केवल प्रकार्य ही करती हों, ऐसा इस उपागम में नहीं माना गया है। संरचनाओं के कार्य सापेक्ष और सन्दर्भी होते हैं। एक ही संरचना एक समय में प्रकार्य और दूसरे समय में विकार्य करने की स्थिति में जा सकती है। यह परिस्थिति पर निर्भर करता है और सापेक्ष होता है।

आल्मण्ड के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक पर विचार

आल्मण्ड भी अपने संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विश्लेषण का आधार राजनीतिक व्यवस्था को मानता है। आल्मण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा में वेबर से प्रेरणा ली है और डेविड ईस्टन की परिभाषा को भी स्वीकार किया है।

आल्मण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा एवं उसकी विशेषतायें

आल्मण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था सभी स्वतन्त्र समाजों में अन्तःक्रियाओं की ऐसी व्यवस्था है जो बहुत कुछ भौतिक बाध्यता का प्रयोग करके या प्रयोग करने की धमकी देकर एकीकरण और अनुकूलन के कार्यों को पूरा करती है।

आल्मण्ड की यह परिभाषा मैक्स वेबर की राज्य की परिभाषा, ईस्टन की आधिकारिक आवंटन या वितरण की अवधारणा और पारसन्स के इस विचार का कि राजनीतिक व्यवस्था समाज की उपव्यवस्था के रूप में काम करती है, सम्मिलित रूप कही जा सकती है।

उपरोक्त सन्दर्भ में – आल्मण्ड ने उसे एक ऐसी इकाई माना है जो वातावरण को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित होती है। आल्मण्ड के अनुसार, किसी राजनीतिक व्यवस्था में निम्न विशेषताओं का पाया जाना अपेक्षित है–

(1) **सम्पूर्णता**– विश्लेषण की इकाई के रूप में आल्मण्ड सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर बल देता है।

(2) **अन्तर्निर्भरता**– राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों में अन्तर्निर्भरता पाई जाती है। व्यवस्था के विभिन्न अंग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं एवं एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं।

टिप्पणी

(3) सीमा रेखायें– सीमा रेखाओं के अस्तित्व का अर्थ है वह रेखा जहां तक व्यवस्था समाप्त होती है तथा दूसरी प्रारम्भ होती है। यहां सीमाओं से अभिप्राय भौगोलिक सीमाओं से नहीं बल्कि भूमिकाओं से है जहां राजनीतिक व्यवस्था की भूमिका समाप्त होती है वहां अन्य व्यवस्था की भूमिका प्रारम्भ होती है। सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था सभी की अपनी अपनी भूमिका होती है।

(4) खुली व्यवस्था– राजनीतिक व्यवस्था खुली होती है इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक व्यवस्था वातावरण को प्रभावित करती है और उससे प्रभावित होती है।

(5) राजनीतिक संरचनाओं का अस्तित्व– आल्मण्ड यह मानता है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में चाहें उनकी प्रकृति कैसी भी क्यों न हो और विकास के मार्ग पर कहीं भी क्यों न हों, कुछ संरचनायें आवश्यक रूप से विद्यमान होती हैं।

(6) समान प्रकार्य– प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था स्वयं को बनाये रखने के लिए कुछ कार्यों का निष्पादन अनिवार्य रूप से करती है। प्रकार्यों की प्रवृत्ति, मात्रा, शैली में विभिन्न संरचनाओं और सांस्कृतिक विविधताओं के कारण अन्तर हो सकते हैं किन्तु राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा चार कार्य–मांगों का चयन और संयुक्तीकरण, मांगों का रूपान्तरण, व्यवस्था का अनुरक्षण तथा व्यवस्था का अनुकूलन निष्पादित होना आवश्यक है।

(7) बहुकार्यात्मक राजनीतिक संरचनायें– इस उपागम की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें यह माना गया है कि एक संरचना अनेक कार्यों का सम्पादन कर सकती है। अतः इस परम्परागत दृष्टिकोण को, कि एक संरचना एक ही कार्य कर सकती है, इसमें नकार दिया गया है। यह अध्ययन दृष्टिकोण इसी बात में आधुनिक है कि यह राजनीतिक यथार्थ को पहचानने की क्षमता रखता है।

(8) मिश्रित स्वरूप वाली राजनीतिक संस्कृति– प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की एक राजनीतिक संस्कृति होती है जो आधुनिक और परम्परावादी संस्कृतियों का मिश्रण होती है। अन्ततः जैसे–जैसे व्यवस्था का विकास होता जाता है, इन संरचनाओं में विशेषज्ञता आ जाती है और संस्कृति के परम्परावादी पहलू घटने लगते हैं। फिर भी एक राजनीतिक संस्कृति के परम्परावादी तत्वों का पूर्ण लोप कभी नहीं होता। आल्मण्ड का कहना है कि व्यवस्था के विकास के साथ–साथ इसकी संरचनायें विशेषीकृत कार्य करने लगती हैं और इसलिए राजनीतिक संस्कृति का स्वरूप बदलने लगता है।

राजनीतिक व्यवस्था के कार्य

विकसित पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं को आधुनिक मानते हुए आल्मण्ड ने एक राजनीतिक व्यवस्था के दो प्रकार के कार्य बतलाये हैं–

1. इनपुट या आगत कार्य
2. आउटपुट या निर्गत कार्य

टिप्पणी

आल्मण्ड के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम के अनुसार, इनपुट या आगत कार्य इस प्रकार हैं–

आल्मण्ड का संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक विश्लेषण

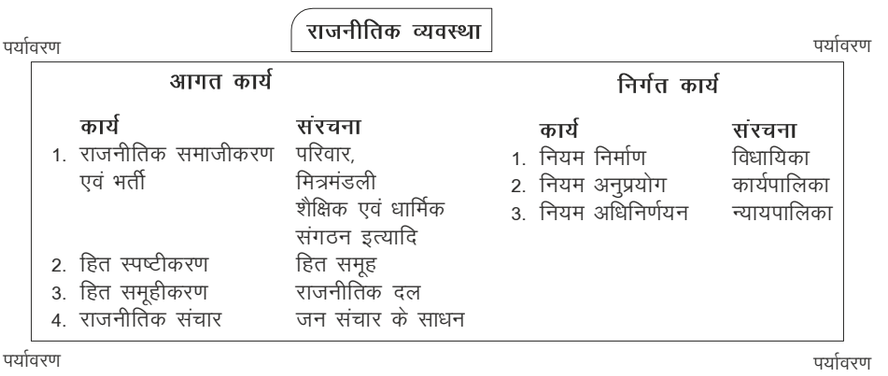

(1) **राजनीतिक समाजीकरण एवं भर्ती**– राजनीतिक समाजीकरण के अन्तर्गत पहले पहल व्यक्ति अपने चारों ओर राजनीतिक प्रणाली के अस्तित्व के प्रति जागरूक होता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत व्यक्ति अपने समाज के राजनीतिक जीवन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण बनाता है और स्वयं समाज इसके माध्यम से अपने राजनीतिक मूल्यों, आदर्शों और मान्यताओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाता है। इस कार्य को सम्पन्न करने वाली संरचनायें हैं– परिवार, मित्रमण्डली, शिक्षा संस्थायें राजनीतिक दल, दबाव समूह, धार्मिक संगठन इत्यादि। जनसंचार के साधन भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। 'राजनीतिक भर्ती' वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक समूह अपने नये सदस्य बनाते हैं। पुराने सदस्यों की जगह नये सदस्य नियुक्त करते हैं जैसे राजनीतिक दलों के चुनाव और नियुक्ति की प्रक्रिया इत्यादि।

(2) **हित स्पष्टीकरण**– इस प्रक्रिया के अन्तर्गत लोगों के विचारों, अभिवृत्तियों, मान्यताओं और अधिमान्यताओं को राजनीतिक प्रणाली के प्रति निश्चित मांगों के रूप में परिणित कर दिया जाता है। इस कार्य को निभाने वाली प्रमुख संरचना दबाव समूह एवं हित समूह हैं। फिर भी राजनीतिक दलों के कार्यक्रम, चुनाव अभियान और जनसंचार के साधन भी इसमें अपनी भूमिका निभाते हैं।

(3) **हित समूहीकरण**– इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न समूहों की मांग एकजुट कर दी जाती है ताकि वे राजनीतिक सत्ताधारियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो इस स्तर पर लोगों की मांगें ऐसे मुद्दों का रूप धारण कर लेती हैं जिन पर राजनीतिक रूप से विचार करना और कार्रवाई करना जरूरी हो जाता है। हित–समूहीकरण का प्रमुख माध्यम राजनीतिक दल हैं।

(4) **राजनीतिक संचार**– इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न समूहों की मांगें, समर्थन और विरोध प्रदर्शन राजनीतिक प्रणाली तक पहुंचाये जाते हैं और सरकार द्वारा आवश्यक सूचनायें, विवरण और निर्णय जनसाधारण तक पहुंचाये जाते हैं। इसके लिए उपयुक्त संरचनायें जनसंचार के साधन हैं।

टिप्पणी

आल्मण्ड के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत कार्य

आल्मण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के तीन निर्गत कार्य बताये हैं–

(1) **नियम निर्माण**– आल्मण्ड के शब्दों में नियम–निर्माण कार्य सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में होता है, चाहे ये परम्परागत हो या आधुनिक/एक राजनीतिक व्यवस्था जनता की मांगों को उजागर कर उन्हें मान्यता दिलवाती हुई एक सार्वजनिक नीति का रूप दिलवाती है।

(2) **नियम प्रयोग**– विधि निर्माण तभी सार्थक होता है जब विधियों का कार्यान्वयन किया जाये अतः किसी राजनीतिक व्यवस्था का एक आधारभूत आउटपुट कार्य अपनी कार्य विधियों को लागू करना है।

(3) **नियम अधिनिर्णयन अथवा नियमों के आधार पर न्याय**– आल्मण्ड के अनुसार, निपटारे के कार्य से अधिकृत निर्णय लेने की प्रक्रिया शुरू होती है। जो यह देखती है कि किसी निश्चित स्थिति में नियम का उल्लंघन किया गया है या नहीं।

उपरोक्त निर्गत कार्य सरकार के परम्परागत कार्य हैं, जिन्हें शासन की परम्परागत संरचनायें–अर्थात् क्रमशः विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्पन्न करती हैं। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के निर्गत कार्य तो सरकारी उपव्यवस्थायें संभालती हैं, परन्तु आगत कार्य गैर सरकारी उपव्यवस्थायें सम्पन्न करती हैं। आल्मण्ड की मुख्य रुचि आगत कार्यों के विश्लेषण में थी क्योंकि इनका संबंध राजनीति की अनौपचारिक संरचनाओं से है जिनकी ओर तुलनात्मक राजनीति के परम्परागत अध्ययन में कोई ध्यान नहीं दिया गया था।

वस्तुतः आल्मण्ड ने संरचनात्मक दृष्टि से एक विकसित राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिरूप प्रस्तुत किया है। किसी विकासशील देश की राजनीतिक व्यवस्था को इस प्रतिरूप से मिलाकर वहां के राजनीतिक विकास के स्तर को मापा जा सकता है। अतः आल्मण्ड ने इस विश्लेषण को विकासात्मक उपागम की संज्ञा दी है।

रूपान्तरण, अनुकूलन तथा परिवर्तन की प्रक्रियायें– व्यवस्थायें कार्यों के विभिन्न स्तरों पर कार्य करती हैं और इसमें रखरखाव, अनुकूलन तथा परिवर्तन के कार्य शामिल होते हैं। ये कार्य राजनीतिक व्यवस्था तथा इसके वातावरण के मध्य होने वाले आदान–प्रदान के माध्यम से होते हैं। इनको रूपान्तरण प्रक्रिया द्वारा निवेशों को निकासों में रूपान्तरित करके भी किया जाता है। रूपान्तरण प्रक्रिया से अभिप्राय उस तरीके तथा तन्त्र रचना से है जिसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था निवेशों को रूपान्तरित करती है और वातावरण में उत्पन्न प्रक्रियाओं का प्रत्युत्तर देती है।

राजनीतिक व्यवस्था की क्षमतायें

राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का संबंध व्यवस्था की सफलतापूर्वक निवेशों के साथ चलने की योग्यता तथा सीमा से है। आल्मण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं के पांच स्वरूपों का उल्लेख किया है–

टिप्पणी

(1) **स्रोत प्राप्ति की क्षमता**– इसका संबंध व्यवस्था की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण से भौतिक तथा मानवीय साधन निकालने की क्रिया से है।

(2) **नियमन की क्षमता**– इसका संबंध व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहार पर नियन्त्रण रखने के राजनीतिक व्यवस्था द्वारा किये जाने वाले कार्य से है।

(3) **आवंटन क्षमता**– इसका संबंध राजनीतिक व्यवस्था में समाज में व्यक्तियों तथा समूहों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, सेवाओं, सम्मानों, सामाजिक स्तरों तथा अवसरों के आवंटन से है।

(4) **लाक्षणिक क्षमता**– इसका संबंध राजनीतिक व्यवस्था से समाज तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में होने वाले प्रभावशाली प्रतीकों के प्रवाह की गति से है। इसमें विशिष्ट वर्गों द्वारा मूल्यों को प्रमाणित करने, ध्वजाओं के प्रदर्शन, सेना उत्सवों, शाही या उच्च अधिकारियों के आगमन तथा राजनीतिक नेताओं की नीतियों या कथनों का अध्ययन शामिल है।

(5) **उत्तरदायी होने की क्षमता**– इसका संबंध आन्तरिक या बाहरी दबावों तथा मांगों के प्रति राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उत्तरदायित्व से है। व्यवस्था किसके प्रति उत्तरदायी है? यह किन राजनीतिक क्षेत्रों में उत्तरदायी है? इत्यादि विश्लेषण के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की उत्तरदायी होने की क्षमता का विश्लेषण किया जाता है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की अपनी सीमायें हैं। कई आधारों पर इसकी आलोचना की जाती है–

(1) इस दृष्टिकोण का संबंध मुख्य रूप से व्यवस्था के जीवित रहने की समस्या, स्थिर अनुकूलन की आवश्यकताओं और व्यवस्था के रखरखाव की ओर ज्यादा है। इसलिए यह कहा जाता है कि इसका संबंध प्रस्तुत प्रणाली को बनाये रखने से है और सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा नहीं देता।

(2) यह दृष्टिकोण राजनीतिक संकटों, क्रान्तियों, सैनिक तथा नागरिक विद्रोहों के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं देता जो किसी भी राजनीतिक व्यवस्था विशेषतः एशियाई तथा अफ्रीकी राजनीतिक व्यवस्थाओं में कभी भी उत्पन्न हो सकती है।

(3) संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण इन लक्ष्यों तथा मूल्यों के अध्ययन को कोई स्थान नहीं देता जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

(4) यह उपागम व्यक्तियों तथा समूहों का अध्ययन नहीं करता। यह केवल उनकी भूमिकाओं पर ही ध्यान केन्द्रित करता है।

(5) आल्मण्ड के दृष्टिकोण को पश्चिम की विकसित राजनीतिक व्यवस्थाओं पर अधिकांशतः लागू किया जा सकता है लेकिन एशिया और अफ्रीका की विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं पर कम ही लागू किया जा सकता है।

टिप्पणी

(6) आल्मण्ड स्वेच्छाचारिता से राजनीतिक संचार को निवेश कार्य के रूप में वर्गीकृत करता है। राजनीतिक संचार सभी तीनों स्तरों निवेश, रूपान्तरण तथा निकास पर कार्यरत होता है अतः इसे केवल निवेश नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष– उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की कई उपयोगितायें भी हैं।

1. तुलनात्मक शासन और राजनीति के अध्ययन में संरचनात्मक पद्धति विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई क्योंकि इससे उन राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना के लिए मानक आधार मिल जाते हैं जो अन्यथा एक दूसरे से बहुत भिन्न हों।
2. इस दृष्टिकोण का उपयोग राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचनाओं तथा कार्यों का समुचित रूप से इकट्ठा अथवा अलग–अलग रूप में अध्ययन किया जा सकता है।
3. संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण ने राजनीतिक व्यवस्था की धारणा को भी लोकप्रिय बनाया है।
4. इस उपागम का प्रयोग करके तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन को व्यापक वास्तविक स्पष्ट तथा अनुभववादी बनाने में आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण की सहायता की है।

उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर हम राजनीतिक व्यवस्थाओं को वर्गीकृत करने तथा उन सम्भावित दशाओं, जिनमें विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में विकास या परिवर्तन हो सकता है, का विश्लेषण तथा तुलना कर सकते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा के संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक मॉडल का प्रतिपादन किसने किया था?

   (क) रॉबर्ट सी. बोन (ख) आल्मण्ड

   (ग) टालकॉट पारसन्स (घ) मरियन लेवी

8. आल्मण्ड ने राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत निर्गत कार्य कौन–सा बतलाया है?

   (क) नियम निर्माण (ख) नियम प्रयोग

   (ग) नियम अधिनिर्णयन (घ) उपरोक्त सभी

1.5 राजनीतिक संस्कृति

राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में अब तुलनात्मक राजनीति का सम्पूर्ण अध्ययन करना सम्भव हो गया है। विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हैं तो समष्टिवादी विश्लेषण और व्यष्टिवादी विश्लेषण को एक साथ मिलाना सम्भव होता है। तुलनात्मक राजनीति के वास्तविक अध्ययन के लिए राजनीतिक संस्कृति की धारणा को विकसित करने के प्रयासों को

टिप्पणी

जन्म दिया। इस दिशा में आरम्भिक महत्वपूर्ण सहयोग ग्रैब्रियल आल्मण्ड ने दिया जिसे इस धारणा को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। इस धारणा को लोकप्रिय बनाने का श्रेय कोलमैन, पावेल, वर्बा, ल्यूसियन–पाई, डेनिस कवॉना तथा कई अन्य आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिकों को जाता है।

राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

राजनीतिक संस्कृति किसी समाज की सामान्य संस्कृति का अंग होती है। जिस प्रकार सामान्य संस्कृति मनुष्य का सामाजिक जीवन के प्रति दृष्टिकोण है उसी तरह राजनीतिक संस्कृति लोगों की राजनीति के प्रति मनोवृत्ति है। आल्मण्ड ने अपने एक निबन्ध "कम्पेरेटिव पॉलिटिकल सिस्टम्स" में राजनीतिक संस्कृति शब्द का पहली बार 1956 में प्रयोग किया था।

आल्मण्ड और पावेल के अनुसार– "राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक व्यवस्था के लोगों की राजनीति के प्रति मनोवृत्ति व रवैया है।"

सिडनी वर्बा के अनुसार– "राजनीतिक संस्कृति, व्यक्तियों की आस्थाओं अभिव्यक्त प्रतीकों और मूल्यों की ऐसी धारणा है जिससे राजनीतिक क्रिया की परिस्थितियों को अर्थ मिलता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीतिक संस्कृति व्यवस्था के सदस्यों में राजनीति के प्रति वैयक्तिक अभिवृत्तियों और अभिमुखीकरणों का प्रतिमान है अर्थात् राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक मुद्दों से सम्बन्धित सामाजिक दृष्टिकोणों, विश्वासों और मूल्यों से राजनीतिक संस्कृति का निर्माण होता है। राजनीति के प्रति लोगों की धारणायें हैं, अर्थात कहां तक नागरिक यह महसूस करते हैं कि निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेकर उसे प्रभावित करते हैं कि वे निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेकर उसे प्रभावित कर सकते हैं, वे भाव से सम्बन्धित अभिवृत्ति हैं।

राजनीतिक संस्कृति के संघटक– राजनीतिक संस्कृति के संघटक तत्वों का अभिप्राय है उसके निर्माणक तत्व। मोटे तौर पर यह तीन तत्वों का समूह होती है–

(1) आनुभाविक विश्वास

(2) मूल्य अभिरुचियां

(3) प्रभावी अनुक्रियाएं

(1) **आनुभाविक विश्वास**– इसका संबंध व्यक्ति की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में समझ से है। राजनीति के संबंध में व्यक्ति की आस्थायें एवं विश्वास उसके स्वयं के अनुभव से बनते हैं। व्यक्ति का यह विश्वास राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया से बनता है। व्यक्तियों का चुनाव में मत देना या न देना उसकी राजनीतिक व्यवस्था के लगाव या रुखेपन पर निर्भर करता है।

(2) **मूल्य अभिरुचियां**– इसका अभिप्राय है कि राजनीतिक समाज के व्यक्ति स्वयं अपने लिए और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए किस प्रकार की मूल्य व्यवस्था में रुचि रखते हैं। कुछ व्यक्तियों की रुचि कानून व्यवस्था व स्थायित्व में हो सकती है

टिप्पणी

तो किसी अन्य समाज में सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता और समानता में। अतः राजनीतिक संस्कृति में व्यक्तियों के और सम्पूर्ण समाज के लिए मूल्य, पसन्दगियों का विशेष महत्व होता है। इन्हीं के आधार पर राजनीतिक व्यवस्थाओं में अस्थिरतायें, संघर्ष या स्थिरता और व्यवस्था बनी रहती है।

(3) **प्रभावी अनुक्रियाएं**– इसका अभिप्राय है कि ज्ञात राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के प्रति अनुकूल मनोभावों को कहा जाता है। किसी देश में हित समूहों, दबाव समूहों को अच्छी दृष्टि से देखा जाता है तो कहीं उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है।

राजनीतिक संस्कृति के लक्षण

राजनीतिक संस्कृति के लक्षण या विशेषतायें इस प्रकार हैं–

1. राजनीतिक संस्कृति एक अमूर्त और नैतिक अवधारणा है क्योंकि संस्कृति मूल्यों और विश्वासों से मिलकर बनती है जो कि अमूर्त और नैतिक होते हैं। इसलिए राजनीतिक संस्कृति भी अमूर्त और नैतिक होती है।
2. राजनीतिक संस्कृति अनेक तत्वों (आनुभाविक विश्वास, मूल्य अभिरुचियां, प्रभावी अनुक्रियायें) का सामूहिक एवं समन्वित रूप होती है।
3. राजनीतिक संस्कृति के कुछ तत्व निरन्तर गतिशील होते हैं अतः राजनीतिक संस्कृति भी गतिशील होती है।
4. राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती है।
5. राजनीतिक संस्कृति में सामूहिक मान्यताओं के साथ–साथ व्यक्तिनिष्ठ मान्यताओं का भी अध्ययन किया जाता है।

राजनीतिक संस्कृति के आयाम

आल्मण्ड और वर्बा ने राजनीतिक संस्कृति के चार आयामों को स्पष्ट किया है–

(1) राष्ट्रीय अभिज्ञान– इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति अपने आपको किस राजनीतिक इकाई के साथ जोड़ता है। व्यक्ति अपने आपको राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, धार्मिक या कबीले जैसी उपव्यवस्था के साथ ही सम्बन्धित मान सकता है। सिडनी वर्बा का मानना है कि राष्ट्रीय अभिज्ञान का आशय लोगों के विश्वासों और इस बात से है कि किस सीमा तक अपने आप को राष्ट्र–राज्य का सदस्य समझते हैं। उदाहरण के लिए वे स्वयं को पंजाबी, असमी या बंगाली समझते हैं या पहले भारतीय।

(2) अपने साथी नागरिकों से एकरूपता– एक राष्ट्र के सदस्यों में पारस्परिक एकता, आस्था और विश्वास से ही राजनीतिक संस्कृति का प्रथम आयाम मजबूत होता है। जिस राजनीतिक व्यवस्था में नागरिक आपस में सब प्रकार की भिन्नता जातीय, भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक रखते हुए भी एक दूसरे के सहयोगी

होकर रहते हैं वहां राजनीतिक संस्कृति में विखण्डनकारी प्रवृत्तियां विद्यमान नहीं होतीं।

(3) शासन निर्गतों के बारे में आस्थाएं– राजनीतिक संस्कृति इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति शासन के निर्णयों से कितने और किस प्रकार के लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं। जब व्यक्तियों को सरकारी निर्णयों से अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि की आशा रहती है तो वे राजनीतिक व्यवस्था का सक्रिय समर्थन करते हैं अन्यथा वे राजनीतिक दृष्टि से उदासीन हो जाते हैं।

(4) निर्णयकारिता के बारे में आस्थाएं– हर समाज में राजनीतिक निर्णय कुछ ही व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं लेकिन साथ ही यह बताने का प्रयास किया जाता है कि सामान्य जनता की निर्णय प्रक्रिया में भूमिका है। जनता को अगर यह विश्वास बना रहे कि वह समाज की सामान्य निर्णय प्रक्रिया का भाग है तो इससे राजनीतिक व्यवस्था वैद्य बनी रहती है और जनसाधारण का पूर्ण समर्थन प्राप्त कर पाती है। इसके विपरीत जनता राजनीतिक व्यवस्था के प्रति उदासीनता और विरोध की प्रवृत्ति को अपना सकती है।

राजनीतिक संस्कृति के आधार पर निर्माणकारी तत्व

राजनीतिक संस्कृति के आधार अथवा निर्माणकारी तत्व अनेक हैं जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं–

(1) **ऐतिहासिक आधार**– किसी भी देश की राजनीतिक संस्कृति को विशेष प्रकार का बनाने वाला प्रमुख आधार सम्बन्धित देश का राजनीतिक अतीत होता है। एलन बाल ने ब्रिटेन और फ्रांस के उदाहरण के आधार पर इस तथ्य का विशद् विवेचन किया है। जहां ब्रिटेन में 'राजनीतिक सततता' की स्थिति रही है और प्राचीन मूल्यों का आधुनिक प्रवृत्तियों से विलय हो गया है। फ्रांस में राजनीतिक परिवर्तन क्रान्ति के आधार पर हुए हैं। अफ्रीका और एशिया के कई नये राज्यों पर यूरोपियन औपनिवेशिक प्रमुख का प्रभाव वहां की राजनीतिक संस्कृति पर पड़ा है।

(2) **भौगोलिक आधार**– प्रत्येक राष्ट्र की भौगोलिक अवस्था एवं स्थिति भी राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में अपना विशिष्ट योगदान देती है। ब्रिटेन एक द्वीप है और एक द्वीपीय अलगाव ने ही ब्रिटेन में अन्य यूरोपियन राज्यों से भिन्न राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि चीन एवं पाकिस्तान हमेशा सीमाओं पर तनाव बनाये रखते हैं।

(3) **सामाजिक–आर्थिक संरचना का आधार**– सामाजिक–आर्थिक संरचना राजनीतिक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण आधार होती है। यदि किसी देश के सामाजिक जीवन में जाति, वंश, लिंग, वर्ण और धर्मगत वेदों की बहुत अधिक प्रबलता हो तो लोकतान्त्रिक राजनीतिक संस्कृति की प्राप्ति बहुत अधिक कठिन हो जाती है। इसी प्रकार अत्याधिक निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानता भी

टिप्पणी

लोकतान्त्रिक राजनीतिक संस्कृति को पनपने नहीं देती। वस्तुतः सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ समाज ही एक परिपक्व और विकसित राजनीतिक संस्कृति को जन्म देता है।

(4) **धार्मिक विश्वास एवं समाज और सामान्य संस्कृति का आधार**– सामान्य संस्कृति के अनुकूल राजनीतिक संस्कृति और व्यवस्था को अपनाने पर ही ठीक प्रकार का कार्य किया जा सकता है। अधिकांश विकासशील देशों में गड़बड़ का प्रमुख कारण यही है कि उनमें सामान्य संस्कृति के विपरीत आधुनिक राजनीतिक संस्कृति ऊपर से लाद दी गई है। जो समाज के द्वारा पोषण प्राप्त न कर पाने के कारण प्रभावी नहीं बन सकी है।

धार्मिक विश्वासों का भी राजनीतिक संस्कृति पर प्रभाव देखा जा सकता है। विशेष रूप से उन राज्यों में जहां इस्लाम धर्म के अनुयायी बहुसंख्या में हैं।

(5) **विचारधारा का आधार**– राजनीतिक संस्कृति की धारणा राजनीतिक वस्तुओं तथा क्रियाओं के प्रति ज्ञानात्मक, प्रभावात्मक तथा मूल्यांकित झुकावों से सम्बन्धित होती है। मार्क्सवाद की विचारधारा ने कई राज्यों की राजनीतिक संस्कृति को प्रभावित किया है। जिन्होंने बाद में समाजवाद को मुख्य रूप से अपना लिया। उदारवाद की विचारधारा अब समाजवादी राज्यों के लोगों के झुकावों को बदलने का कार्य कर रही है। भारतीय राजनीतिक संस्कृति पर लोकतन्त्रीय समाजवाद की विचारधारा का प्रभाव रहा है।

मुख्य रूप से सभी तत्व राजनीतिक संस्कृति के निर्धारक तत्व हैं। ये राजनीतिक संस्कृति को एक आधार पर प्रदान करते हैं।

राजनीतिक संस्कृति के परिवर्त्य

आल्मण्ड और पावेल के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण कुछ तत्वों पर निर्भर करता है, जिन्हें व्यक्ति के सन्दर्भ में राजनीतिक संस्कृति के परिवर्त्य कहा जा सकता है, जो इस प्रकार हैं–

(1) **ज्ञानात्मक अभिमुखीकरण**– इसका आशय यह है कि व्यक्ति राजनीतिक वस्तुओं, घटनाओं और क्रियाओं तथा राजनीतिक मुद्दों पर कितना और किस प्रकार का ज्ञान रखते हैं। यह ज्ञान सही या गलत भी हो सकता है।

(2) **भावात्मक अभिमुखीकरण**– इसका संबंध व्यक्ति की उन भावनाओं से है जिनके कारण वह राजनीतिक गतिविधियों से लगाव या अलगाव, पसन्दगियां या नापसन्दगियां रखने लग जाता है। इसी के आधार पर व्यक्ति की सक्रियता निर्धारित होती है।

(3) **मूल्यांकनात्मक अभिमुखीकरण**– इसके अन्तर्गत व्यक्ति राजनीतिक संगठन, उसके कार्यों, लक्ष्यों और उपलब्धियों का मूल्यांकन करता है। यदि राजनीतिक संगठन और उसके कार्य उसके मूल्यांकन की कसौटी पर खरे उतरते हैं तो संगठन के प्रति उसका लगाव और सक्रियता बढ़ जाती है अन्यथा नहीं।

टिप्पणी

राजनीतिक संस्कृति के प्रकार

आल्मण्ड व वर्बा ने लोगों की राजनीति में सहभागिता या अलगाव के आधार पर राजनीतिक संस्कृति के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, राजनीतिक संस्कृति के शुद्ध प्रकार केवल तीन होते हैं।

(क) **संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति**– संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति से तात्पर्य उस संस्कृति से है जिसमें राजनीतिक समाज परम्परागत रूप रखता है। ऐसी व्यवस्था में राजनीतिक भूमिकायें अन्य भूमिकाओं से अलग नहीं होतीं। राजनीति असंरचित ही होती है। शासक ही सभी प्रकार की भूमिकायें अदा करता है तथा लोगों को पूर्णतया राजनीति से अलग–थलग रहना ही पसन्द होता है। वे राजनीतिक समाज के औपचारिक रूप से ही सदस्य होते हैं और उनकी राजनीति में कोई मांग नहीं होती। ऐसी राजनीतिक संस्कृति अत्याधिक परम्परागत व पिछड़े समाजों में ही पाई जाती है।

(ख) **पराधीन राजनीतिक संस्कृति**– इसका तात्पर्य उन राजनीतिक समाजों की संस्कृति से है जहां लोग राजनीतिक व्यवस्था के निर्गतों, जो कि उनके जीवन से जुड़े होते हैं, से ही संबंध रखते हैं। राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों से उनका संबंध नहीं होता। पराधीन राजनीतिक संस्कृति में लोग राजनीति से उदासीन नहीं होते, उनका राजनीतिक अभिमुखीकरण होता है लेकिन केवल राजनीतिक व्यवस्था से लेने के स्तर पर। राजनीतिक व्यवस्था की निवेश संरचनाओं में उनकी कोई रुचि नहीं होती। उनमें राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का अभिज्ञान तो होता है किन्तु इसके अनुरूप राजनीतिक सहभागिता नहीं होती।

(ग) **सहभागी राजनीतिक संस्कृति**– यह राजनीतिक संस्कृति का वह प्रकार है जिसमें सभी लोग राजनीतिक प्रक्रिया में रुचि रखते हैं। उसमें भाग लेते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। इन देशों में हर नागरिक का राजनीतिक समाजीकरण हो जाता है। संचार साधनों के विकसित होने के कारण व्यक्ति को राजनीति का सही ज्ञान प्राप्त कर अपना दृष्टिकोण बनाने के अवसर मिल जाते हैं। इससे व्यक्ति अपने आपको राजनीतिक व्यवस्था से जोड़ लेता है। ऐसी संस्कृति में लोगों की आस्थायें और राजनीतिक व्यवस्था से इतना लगाव होता है कि वे इसे अपना समझते हैं और उसे अपने विकास का प्रभावी साधन बनाये रखने के लिए सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। यही कारण है कि उनका राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों से अधिक सरोकार रहता है।

आल्मण्ड ने राजनीतिक संस्कृति के तीन मिश्रित प्रकारों का भी उल्लेख किया है। यह तीन प्रकार हैं–

(क) संकीर्ण–पराधीन राजनीतिक संस्कृति

(ख) पराधीन–सहभागी राजनीतिक संस्कृति

(ग) संकीर्ण सहभागी राजनीतिक संस्कृति

आल्मण्ड ने यह मिश्रित प्रकार, सम्पूर्ण विश्व की राजनीतिक व्यवस्थाओं का राजनीतिक संस्कृति के आधार पर वर्गीकरण करने के लिए स्वीकार किये हैं।

टिप्पणी

राजनीतिक संस्कृति

विशुद्ध राजनीतिक संस्कृति	**मिश्रित राजनीतिक संस्कृति**
(1) संकीर्ण राजनीतिक संस्कृति	(1) संकीर्ण सहभागी राजनीतिक संस्कृति
(2) पराधीन राजनीतिक संस्कृति	(2) पराधीन सहभागी राजनीतिक संस्कृति
(3) सहभागी राजनीतिक संस्कृति	(3) संकीर्ण सहभागी राजनीतिक संस्कृति

आल्मण्ड का यह मानना है कि अधिकांश समाजों में विविध प्रकार की संस्कृतियां मिश्रित रूप में ही पाई जाती हैं।

राजनीतिक संस्कृतियों पर आधारित राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण

आल्मण्ड ने राजनीतिक संस्कृति की धारणा का उपयोग राजनीतिक व्यवस्थाओं को वर्गीकृत करने के लिए किया है। वह समकालीन विश्व में चार विशिष्ट प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करता है।

(1) **आंग्ल अमरीकी राजनीतिक व्यवस्थायें**– आंग्ल–अमरीकी व्यवस्थायें विकसित पश्चिमी देशों में कार्यरत हैं। अमेरिका में भी ऐसी ही राजनीतिक व्यवस्था कार्यरत है। इन देशों में बहुमूल्य राजनीतिक संस्कृतियां पाई जाती हैं, जैसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जनकल्याण, सुरक्षा इत्यादि। लोगों में राजनीतिक साध्यों तथा उनकी प्राप्ति के साधनों के विपक्ष में एक आम समझौता होता है। राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक कार्यकर्ता की एक निश्चित भूमिका होती है तथा विभिन्न लोगों की भूमिकाओं में पर्याप्त आपसी लेन–देन रहता है। इन राजनीतिक व्यवस्थाओं में भिन्न प्रकार की भूमिकायें होती हैं। इन भूमिकाओं की विशिष्ट संरचनाओं के साथ–साथ प्रत्येक संरचना व्यवस्था की स्थिरता के लिए कार्य करती है।

(2) **महाद्वीपीय यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्थायें**– आल्मण्ड के अनुसार, महाद्वीपीय यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्थाओं में फ्रांस, जर्मनी तथा इटली की राजनीतिक व्यवस्थायें आती हैं। राजनीतिक संस्कृति विभाजित तथा अलग–अलग प्रकार की होती है। इनमें एकरूपता कम ही होती है। समाज के विभिन्न वर्गों की अपनी–अपनी उपसंस्कृतियां होती हैं। राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति उपसंस्कृति की कड़ी जैसी होती है। उपसंस्कृतियों को बहुत बार चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और कभी–कभी करिश्मावादी राष्ट्रवाद के आन्दोलनों द्वारा बलपूर्वक इन पर प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया जाता है ताकि खण्डों में विभाजित राजनीतिक संस्कृति को मिश्रित करके एक रूप बनाया जा सके।

(3) **पूर्व औद्योगिक अथवा आंशिक–औद्योगिक व्यवस्थायें**– एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों अर्थात् तीसरी दुनिया के बहुत से देशों में पूर्व औद्योगिक तथा आंशिक औद्योगिक राजनीतिक व्यवस्थायें ही आमतौर पर प्रचलित हैं। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था की संस्कृति, सांस्कृतिक मिश्रण देश के इतिहास के साम्राज्यवाद की अधीनता के काल के प्रभावाधीन तथा इसके परिणामस्वरूप होता है। तालमेल तथा संचार की कठिनाइयों के कारण इनमें हिंसा उत्पन्न होती है।

(4) **सर्वसत्तावादी राजनीतिक व्यवस्थायें**– नाजीवादी जर्मनी, फासीवादी इटली, भूतपूर्व सोवियत संघ और वर्तमान समय में चीन, ईरान, लीबिया, क्यूबा आदि अधिनायकवादी व्यवस्थायें इसी वर्ग में आती हैं। व्यवस्था के नियन्त्रण के लिए राज्य द्वारा बल तथा भय का प्रयोग किया जाता है। कठोर रूप में संगठित एक राजनीतिक दल के हाथों में समस्त शक्ति केन्द्रित होती है। यह दल सरकार, नौकरशाही, सेना तथा पुलिस पर नियन्त्रण रखता है। इन व्यवस्थाओं में सत्ता की औचित्यपूर्णता को बलपूर्वक तथा प्रचार द्वारा प्राप्त किया जाता है। आल्मण्ड का राजनीतिक व्यवस्थाओं का उपरोक्त वर्गीकरण राजनीतिक संस्कृतियों के आधार पर उनका विश्लेषण तथा तुलना करने में बहुत महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक संस्कृति उपागम की तुलनात्मक राजनीति में उपयोगिता

तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक संस्कृति उपागम की उपयोगिता के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं–

सिडनी वर्बा ने तीन कारणों से तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में राजनीतिक संस्कृति उपागम को महत्वपूर्ण माना है–

(1) नये राष्ट्रों का उदय हुआ है जिससे यह प्रश्न प्रमुख बन गया है कि स्थाई राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण कैसे किया जाये।

(2) पुराने राष्ट्रों में परिवर्तन हुआ है।

(3) अनेक ऐसी समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं जो राजनीति शास्त्र के विद्वानों तथा वर्तमान संस्थाओं की क्षमताओं को एक चुनौती है।

उपरोक्त परिवर्तनों ने कई चुनौतियों एवं प्रश्नों को खड़ा किया है जैसे राजनीतिक व्यवस्थाओं को तेजी से बदलती परिस्थितियों से अनुकूलित कैसे किया जाये? किस प्रकार की व्यवस्था को किस दिशा में विकसित किया जा सकता है? अतः सिडनी वर्बा ने यह माना है कि राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा के माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित ऐसे पक्षों का अध्ययन किया जा सकता है जो सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन का विशेष रूप से स्पष्टीकरण दे सकें।

ल्यूसियन पाई के अनुसार, राजनीतिक संस्कृति ने सूक्ष्म अध्ययन तथा वृहद अध्ययन को जोड़ने का साधन उपलब्ध किया है।

आल्मण्ड के अनुसार, यह विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के अपने–अपने वातावरणों में व्यवहारों के तुलनात्मक अध्ययन को सम्भव बनाता है।

टिप्पणी

डा. एस.पी. वर्मा ने इस धारणा के पांच मुख्य योगदानों की सूची तैयार की है–

(1) इसने सूक्ष्म तथा वृहद के मिले–जुले दृष्टिकोण के माध्यम से राजनीतिशास्त्र को एक पूर्ण सामाजिक विज्ञान बनाया है।

(2) एक गतिशील इकाई के रूप में राजनीतिक समुदाय के अध्ययन को इस धारणा ने सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में विशिष्ट स्थान दिलवाया है।

(3) इसने राजनीतिक वैज्ञानिकों को इसके लिए प्रोत्साहित किया है कि वे एक देश की राजनीतिक संस्कृति को आकार देने वाले सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन करें।

(4) राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा ने यह समझने में हमारी सहायता की है कि विभिन्न राजनीतिक समाज राजनीतिक विकास की भिन्न–भिन्न दिशाओं में क्यों जाते हैं तथा क्यों और कैसे राजनीतिक ह्रास आता है।

उपरोक्त के अलावा तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक संस्कृति उपागम की निम्न उपयोगिता है–

(1) राजनीतिक संस्कृति उपागम ने राजनीतिक व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक वातावरण का व्यापक तथा व्यवस्थित विश्लेषण करने में बहुत सहायता की है।

(2) इस धारणा की सहायता से राजनीति वैज्ञानिक विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के व्यवहारों में अन्तर की व्याख्या व्यवस्थित ढंग से कर सकते हैं।

(3) किसी राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक विकास के मार्ग का विश्लेषण करने के लिए भी राजनीतिक संस्कृति की धारणा का उपयोग किया जा सकता है।

(4) कई राजनीतिक वैज्ञानिकों ने इस धारणा का उपयोग सम्भावित राजनीतिक परिवर्तनों–क्रान्तियों तथा हिंसात्मक परिवर्तनों, सैनिक विद्रोहों आदि की प्रकृति तथा सम्भावनाओं का विश्लेषण करने के लिए किया है।

(5) राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण के लिए सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करती है।

(6) इस धारणा ने राजनीतिक व्यवस्थाओं के व्यवहारों में आनुभाविक अध्ययन को सम्भव बनाया है।

राजनीतिक संस्कृति के उपर्युक्त लाभों के साथ इस उपागम की सीमाओं को ध्यान में रखना भी महत्वपूर्ण है। राजनीतिक वस्तुओं तथा क्रियाओं के संबंध में झुकावों के आंकड़े इकट्ठा करना बहुत कठिन कार्य है। यह राजनीति के कुछ ही भागों की व्याख्या और विश्लेषण करने में सहायता करती है न कि सम्पूर्ण राजनीतिक की। राजनीतिक संस्कृति के इतने आयाम व नियामक हैं कि इसके आधार पर अध्ययन व तुलनाओं में विशेष सतर्कता और सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

फिर भी पश्चिम की स्थिति राजनीतिक व्यवस्थाओं से भिन्न नवोदित राज्यों में राजनीतिक व्यवहार और संस्थागत व्यवस्थाओं में अन्तर को समझने के लिए राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकताओं और अभिवृत्तियों को समझने में इस उपागम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. राजनीतिक संस्कृति की धारणा को विकसित करने का श्रेय किसे प्राप्त है?
   (क) गैब्रियल आल्मण्ड (ख) पावेल एवं वर्बा
   (ग) कोलमैन (घ) इनमें से कोई नहीं
10. आल्मण्ड ने अपने निबंध 'कम्पेरेटिव पॉलिटिकल सिस्टम्स' में राजनीतिक संस्कृति शब्द का प्रयोग पहली बार कब किया था?
   (क) 1940 (ख) 1952
   (ग) 1956 (घ) 1960

1.6 राजनीतिक समाजीकरण

राजनीतिक समाजीकरण एक अवधारणा और प्रक्रिया दोनों ही है। अवधारणा के रूप में यह राजनीतिक विश्लेषण की इकाई और प्रक्रिया के रूप में यह राजनीतिक संस्कृति का नियामक तत्व है।

राजनीतिक समाजीकरण का एक अवधारणा के रूप में अर्थ

राजनीति विज्ञान में समाजीकरण की अवधारणा का प्रथम व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करने का श्रेय हरबर्ट हाइमैन को प्राप्त है। इसके बाद गैब्रियल आल्मण्ड, ईस्टन और आर.डी. हैस आदि ने एक धारणा के रूप में राजनीतिक समाजीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की। एक धारणा के रूप में राजनीतिक समाजीकरण को राजनीति संबंधी मूल्यों, मान्यताओं और आस्थाओं से जोड़ा जाता है।

एलेन बाल के अनुसार– राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में कुछ धारणाओं का होना, उनका विकास तथा व्यवस्था में सम्बन्धित विश्वास ही राजनीतिक समाजीकरण है।

इस प्रकार एक धारणा के रूप में राजनीतिक समाजीकरण व्यक्ति के राजनीतिक संबंधी मूल्यों, विश्वासों, अभिवृत्तियों एवं विचारों का योग है।

राजनीतिक समाजीकरण : एक प्रक्रिया के रूप में

राजनीतिक समाजीकरण मुख्य रूप से तो एक प्रक्रिया है और सामान्यतया राजनीतिक समाजीकरण को एक प्रक्रिया के रूप में ही परिभाषित किया जाता है। राजनीति के बारे में लोगों की प्रवृत्तियों, विचारों और आस्थाओं के बनने की प्रक्रिया को ही राजनीतिक समाजीकरण कहते हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में उस समाज के लोगों के विचार होते हैं। सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था उसकी विभिन्न संस्थाओं, उसके नेताओं और व्यवस्था को संचालित करने वाले अभिजनों के संबंध में लोगों का अपना रुख, रवैया, उनका अपना दृष्टिकोण होता है। राजनीतिक से जुड़े इन विविध पक्षों के प्रति व्यक्तियों के रुख और रवैये के बनने की प्रक्रिया को ही राजनीतिक समाजीकरण कहते हैं।

टिप्पणी

आल्मण्ड और पावेल के अनुसार– राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है, राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है, अपनी आकांक्षाओं, इच्छाओं और प्रतिमानों का निर्माण करता है।

सीगल के अनुसार– राजनीतिक समाजीकरण से अभिप्राय सीख की वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत राजनीतिक आदर्श एवं व्यवहार पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं।

अतः राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को राजनीतिक मूल्यों का हस्तान्तरण करती है। इस प्रकार यह समाजीकरण का ही विशिष्ट रूप है। जब व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया का सन्दर्भ सामाजिक जीवन और व्यवस्था होता है तब इसे समाजीकरण का नाम दिया जाता है और जब इसका सन्दर्भ राजनीतिक व्यवस्था से जोड़ा जाता है तब इसे राजनीतिक समाजीकरण कहा जाता है।

राजनीतिक समाजीकरण की विशेषताएं– राजनीतिक समाजीकरण की विशेषतायें इस प्रकार हैं–

(1) **राजनीतिक समाजीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया**– यह प्रक्रिया मनुष्य के मन, मस्तिष्क उसके विचार और भावनाओं से जुड़ी हुई है। अतः इसमें मनुष्यों के विचारों और भावनाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।

(2) **राजनीतिक शिक्षण–प्रशिक्षण की प्रक्रिया**– राजनीतिक समाजीकरण के द्वारा नागरिक राजनीतिक मूल्यों, आदर्शों को ग्रहण करते हैं। नागरिकता का प्रशिक्षण, देश के प्रति लगाव या अलगाव की भावनाओं का निर्माण राजनीतिक समाजीकरण के द्वारा ही होता है।

(3) **निरन्तर और गतिशील प्रक्रिया**– आल्मण्ड और पावेल के अनुसार, राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के समस्त जीवन में निरन्तर चली रहती है। व्यक्ति जिस प्रकार के सामाजिक अनुभवों से गुजरता है, उसका व्यक्ति के दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ता है। परिणामतः उसका दृष्टिकोण पहले से अधिक दृढ़ हो जाता है अथवा उसमें परिवर्तन आने लगता है। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक पारिवारिक मनुष्य व्यक्ति को एक राजनीतिक दल की ओर उन्मुख कर सकता है लेकिन उसके बाद शिक्षा मित्रों का प्रभाव, कार्य व्यवहार, व्यवसाय से प्राप्त होने वाला अनुभव व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित कर सकता है।

(4) **अत्यधिक विस्तृत प्रक्रिया और धारणा**– राजनीतिक समाजीकरण, समाजीकरण की एक उपप्रक्रिया है। अतः इसमें उन सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक तत्वों का अध्ययन भी सम्मिलित है जो राजनीतिक जीवन को प्रभावित करते हैं। इसमें राजनीति, राजनीतिक जीवन और राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित सभी पहलू आ जाते हैं।

(5) **राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सभी समाजों और राजव्यवस्थाओं में पाई जाती है**– राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया न केवल आधुनिक समाज में, वरन परम्परागत और अत्यन्त परम्परागत समाजों में भी राजनीतिक समाजीकरण प्रक्रिया का अस्तित्व रहा है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को न केवल अधिनायकवादी और साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में वरन् लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी अपनाया जाता है।

उद्देश्यपूर्ण तथा मूल्यों से जुड़ी हुई अवधारणा तथा प्रक्रिया– राजनीतिक समाजीकरण एक उद्देश्यपूर्ण तथा मूल्यों पर आधारित अवधारणा तथा प्रक्रिया है। राजनीतिक समाजीकरण का एक निश्चित उद्देश्य है : राजनीतिक संस्कृति की रक्षा तथा उसका वांछित दिशा में परिवर्तन। उदाहरण के लिए भारत जैसे देश में राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य भारतीय नागरिकों को लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की शिक्षा देना है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया के रूप

आल्मण्ड और कोलमैन ने राजनीतिक समाजीकरण के दो रूप बतलाये हैं :–

(1) **प्रकट समाजीकरण**– जब राजनीतिक व्यवस्था संबंधी जानकारी और मूल्यों का स्पष्ट रूप से और सोचे–विचारे हुए तरीके से सम्प्रेषण किया जाता है तो यह प्रकट राजनीतिक समाजीकरण होता है। प्रकट राजनीतिक समाजीकरण के अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ सर्वोच्च अभिजन वर्ग जनसामान्य को राजनीतिक मूल्यों और आदर्शों की शिक्षा प्रदान कर उन्हें अपनी ओर उन्मुख करने का प्रयास करता है। जब कोई सर्वाधिकारवादी राज्य ऐतिहासिक विवरणों को संशोधित करवाता है या जब कोई नया शासक वर्ग स्कूलों की शिक्षा व्यवस्था में भारी परिवर्तन करता है तो इसका आशय यह है कि राजनीतिक अभिजन जनसाधारण को विशेष राजनीतिक लक्ष्यों की ओर ढालने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकट रूप में प्रचार तन्त्र, छल–योजन, परोक्ष दबाव का भी सहारा लिया जाता है। चुनाव के बाद भी शासक दल और विपक्षी दल प्रेस, रेडियो, दूरदर्शन, विधानमण्डलों और जनसभाओं आदि के माध्यम से इस दिशा में प्रयास करते हैं।

प्रकट राजनीतिक समाजीकरण अपेक्षाकृत कम स्थायी होता है। कई बार प्रकट राजनीतिक समाजीकरण के साधनों का प्रयोग करके विचारों को जनता पर लाद दिया जाता है, जिसे जनता दबाव में आकर स्वीकार करती है। ऐसे प्रभाव सीमित समय तक ही रहते हैं।

(2) **अप्रकट राजनीतिक समाजीकरण**– राजनीतिक समाजीकरण का अप्रकट रूप एक सहज और स्वतः होने वाली प्रक्रिया है। इसमें राजनीति संबंधी मान्यतायें, मूल्य और विचार बनाये नहीं जाते, वरन व्यक्ति के समाजीकरण की वृहत्तर प्रक्रिया के साथ स्वतः ही ऐसे विचार बन जाते हैं। इस रूप में राजनीतिक समाजीकरण जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है। यह धीमे चलने वाली प्रक्रिया है, किन्तु यह अधिक स्थायित्व वाले भावों एवं विचारों को जन्म देती है। इस

टिप्पणी

समाजीकरण में राष्ट्र के प्रति निष्ठा और विशिष्ट मूल्यों को अभिजन वर्ग स्वयं अपने आचरण और जीवन में अपनाकर उदाहरण रूप में दूसरों के सामने रखता है। राजनीतिक समाजीकरण के इस अप्रकट रूप में व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाता है वे राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़े। ऐसी स्थिति में राष्ट्र के प्रति निष्ठा और जीवन मूल्य स्वतः ही नागरिकों के जीवन में विकसित हो जाते हैं। ये व्यक्ति के जीवन में उसके स्वभाव का एक अंग बन जाते हैं। अतः राजनीतिक समाजीकरण का अप्रकट रूप प्रकट रूप से अधिक प्रभावी एवं स्थायी है।

राजनीतिक समाजीकरण के चर या प्रकार–

राजनीतिक समाजीकरण के दो चर या प्रकार हैं–

1. **सजातीय (समरूप) राजनीतिक समाजीकरण**– सजातीय राजनीतिक समाजीकरण का आशय ऐसी स्थिति से है जिसमें राज्य के नागरिक धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के भेदों के बावजूद एक दूसरे के प्रति विश्वास करते हैं और एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। सभी नागरिक परस्पर विश्वास के वातावरण में रहते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य और समाज के प्रति भी निष्ठा की भावना विकसित होती है। इस निष्ठा के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था की रक्षा होती है जिसमें वे रह रहे होते हैं। सजातीय राजनीतिक समाजीकरण के कारण समाज में मतैक्य व समरसता बनी रहती है।
2. **विजातीय या खण्डित राजनीतिक समाजीकरण**– यह राजनीतिक समाजीकरण की ऐसी स्थिति है जिसमें नागरिक एक दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास रखते हैं। धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्रीयता का भेद, राजनीतिक विचारों में अन्तर या आर्थिक हितों का भेद आपसी सन्देह और अविश्वास का कारण हो सकता है। ऐसी स्थिति के कारण राष्ट्रीय एकता व निष्ठा को भी आघात पहुंचता है।

राजनीतिक समाजीकरण का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखना होता है। इस दृष्टि से समरूप राजनीतिक समाजीकरण ही सर्वोत्तम स्थिति है।

राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण या साधन

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया में बहुत से तत्व या संस्थायें अपनी भूमिका निभाते हैं। इन्हें राजनीतिक समाजीकरण के साधन अथवा एजेन्ट कहा जाता है। परिवार, विद्यालय, महाविद्यालय, व्यवसायिक संस्थान आदि को प्राथमिक साधन कहा जा सकता है। क्योंकि ये लोगों को उनके प्रारम्भिक जीवन में राजनीतिक झुकाव प्रदान करते हैं। ऐसे समाजीकरण को प्रारम्भिक समाजीकरण भी कहा जाता है। जो झुकाव अन्य साधनों जैसे जन–संचार, समकक्ष समूहों आदि द्वारा प्रभावित होते हैं। बाद के समाजीकरण को राजनीतिक समाजीकरण कहा जाता है। परन्तु आरम्भिक तथा दूसरे क्रम के राजनीतिक समाजीकरण में कोई आंगिक भेद नहीं है।

राजनीतिक समाजीकरण के मुख्य साधन इस प्रकार हैं :–

(1) **परिवार**– आल्मण्ड तथा पावेल के अनुसार जिस समाजीकरण में संगठन का सामना व्यक्ति सर्वप्रथम करता है वह है परिवार। आल्मण्ड तथा वर्बा के अनुसार

भागीदारी तथा निर्णय निर्माण के संबंध में पहले अनुभव बचपन से ही राजनीतिक प्रतियोगिता की ओर उसे अग्रसर कर देते हैं तथा बड़ा होकर राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने लग जाता है। सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति का प्रथम सम्पर्क परिवार के माध्यम से ही होता है। वह जन्म लेने के बाद परिवार से ही आरम्भिक ज्ञान तथा मूल्य प्राप्त करता है। परिवार में ही सर्वप्रथम उसके कुछ विषयों के बारे में दृष्टिकोण तथा झुकाव बनते हैं तथा उसे सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा वह अपने माता–पिता के प्रभाव तथा सम्पर्क से प्राप्त करता है। वह परिवार में ही सर्वप्रथम सत्ता, शक्ति तथा प्रभाव का नियन्त्रण अनुभव करता है।

(2) **शिक्षण संस्थाएं**– शिक्षण संस्थाएं राजनीतिक समाजीकरण की दूसरी एजेंट हैं। एलन आर. बाल के अनुसार, समाजीकरण की प्रक्रिया पर शिक्षा व्यवस्था का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जो मूल्य विद्यालयों और महाविद्यालयों में सिखाये जाते हैं, वे महत्वपूर्ण होते हैं। आल्मण्ड तथा वर्बा ने जब पांच देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन किया तो सब जगह पाया कि शिक्षित लोग अपने जीवन पर सरकार के प्रभाव के विषय में अधिक सचेत थे, वे राजनीति की ओर अधिक ध्यान देते थे और उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं की अधिक जानकारी थी। परिवार की तरह शिक्षण संस्थान भी विद्यार्थियों को राजनीति के प्राथमिक पाठ देते हैं।

(3) **समकक्ष समूह**– परिवार तथा शिक्षण संस्थाओं की तरह साथी या समकक्ष दृष्टिकोण अथवा मत निर्माण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

आस्टियन रैने के अनुसार– मां–बाप तथा अध्यापकों के बाद अधिकतर लोग अपना अधिकतर समय अपनी आयु के लोगों, जिनका स्तर, समस्यायें तथा लगाव एक समान होते हैं, विशिष्ट समूहों तथा परिवार के बाहर के बीच ही व्यतीत करते हैं। स्कूल के साथी, सहपाठी, सहकर्मी, मित्र समूह आदि भी इस प्रक्रिया के एजेण्ट की तरह होते हैं।

जेम्स कोलमैन के अनुसार– विकसित समाजों जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका में मां–बाप तथा अध्यापकों का प्रभाव किशोरावस्था में समाप्त होने लगता है और समकक्ष समूहों का प्रभाव अधिक होने लगता है।

(4) **कार्य तथा नौकरी का अनुभव**– व्यक्ति के व्यवसाय तथा नौकरी के अनुभव भी राजनीतिक दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं। व्यापार तथा नौकरी के इर्द–गिर्द निर्मित औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन जैसे यूनियन, सामाजिक क्लब आदि भी राजनीतिक सूचना तथा विश्वासों के साधन होते हैं। हित समूहों की गतिविधियां जैसे हड़ताल आदि में भागीदारी भी राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। व्यापार संघों में शामिल होकर उनके द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों में भाग लेना भी समाजीकरण का स्रोत है।

(5) **जनसम्पर्क के साधन**– आल्मण्ड तथा पावेल के अनुसार, "जनसम्पर्क के माध्यमों की राजनीतिक समाजीकरण में भूमिका को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये। वास्तव में बीसवीं शताब्दी की संचार क्रान्ति के बाद जनसम्पर्क के

टिप्पणी

माध्यमों, विशेषतया प्रेस, टी.वी. तथा रेडियो ने प्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण के शक्तिशाली साधनों के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया है। जन सम्पर्क की एक निश्चित व्यवस्था लोगों के राजनीतिक विश्वासों को आकार प्रदान करने का एक शक्तिशाली साधन बनती है। इसका विशेष प्रयोग सत्तावादी या अधिनायकवादी व्यवस्थाओं में किया जाता है। विभिन्न राजनीतिक घटनाओं के विषय में जानकारी देने के साथ–साथ जनसंचार साधन व्यक्तियों के ज्ञान को बढ़ाते हैं तथा उनके झुकावों का निर्माण करते हैं।

(6) **राजनीतिक दल**– राजनीतिक दल अपनी प्रकृति से ही राजनीतिक समाजीकरण के महत्वपूर्ण साधन हैं। दल राजनीतिक समाजीकरण का कार्य दोहरे रूप में करते हैं। सत्ता प्राप्ति के लिए राजनीतिक दल राजनीतिक वातावरण को व्यक्ति के घर की चौखट तक ले जाते हैं। दूसरी ओर व्यक्ति को सामाजिक जीवन से निकालकर राजनीतिक जीवन में प्रवेश करा देते हैं। राजनीतिक दल कभी तो विद्यमान राजनीतिक संस्कृति को सुदृढ़ करने का कार्य करते हैं और कभी विद्यमान राजनीतिक संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने की चेष्टा करते हैं। अधिकनायकवादी और सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत खुले रूप में तो केवल शासक दल को ही कार्य करने की अनुमति होती है। इस राजनीतिक दल को अन्य राजनीतिक दलों के साथ कोई प्रतियोगिता नहीं करनी होती लेकिन ये शासन के साथ जुड़कर अनेक कार्यों का सम्पादन या निष्पादन करते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक सुसंगठित हों, नेतृत्व विशेष परिस्थितियों में दलीय हितों से ऊपर उठ सकें तो राजनीतिक समाजीकरण को प्रभावी बना सकते हैं।

(7) **शासन और राजव्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्पर्क**– व्यक्ति का शासन और राजव्यवस्था से प्रत्यक्ष सम्पर्क व्यक्ति के राजनीतिक समाजीकरण को दिशा देता है। परिवार, स्कूल और शिक्षण संस्थाओं के अनुभव के बाद व्यक्ति अपने जीवनयापन की समस्याओं के संबंध में जब विभिन्न कठिनाइयों का सामना करता है, राशन की लम्बी कतारों में खड़ा होता है, सरकारी अधिकारियों से उपेक्षा भुगतता है इससे व्यवस्था के प्रति उसकी आस्था को आघात पहुंचता है। राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े अभिजनों के साथ उसके औपचारिक एवं अनौपचारिक सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं।

राजनीतिक समाजीकरण में प्रतीकों की भूमिका, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्र गान के प्रति सम्मान, देश के महान लोगों की जयन्तियां, पुण्यतिथियों का आयोजन राजनीतिक समाजीकरण को दिशा देते हैं।

राजनीतिक समाजीकरण के नियामक

राजनीतिक समाजीकरण के नियामकों से अभिप्राय है उसको विशेष प्रकार का बनाने वाले तत्व/राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया हर देश काल, व्यवस्था के अनुसार होती है।

(1) **राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति**– राजनीतिक व्यवस्थायें लोकतान्त्रिक, सर्वाधिकावादी, अधिनायकवादी प्रकार की हो सकती है। अतः राजनीतिक

समाजीकरण की प्रक्रिया व्यवस्था की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। लोकतन्त्र में खुलापन होता है। अतः राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक व अप्रकट रूप में कार्य करती है। अधिनायकवादी या सर्वाधिकारवादी व्यवस्थायें बन्द होती हैं, अतः इन व्यवस्थाओं में राजनीतिक समाजीकरण के अभिकरण शासन तन्त्र की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य करने के लिए विवश होते हैं।

(2) **समाज में समाजीकरण की स्थिति**– राजनीतिक व्यवस्था समाज की एक उपव्यवस्था है। अतः राजनीतिक समाजीकरण समाज में समाजीकरण की स्थिति पर निर्भर करता है। समाज के मूल्य परम्परागत, रुढ़िवादी होंगे तो राजनीतिक समाजीकरण के द्वारा आधुनिक मूल्यों का विकास नहीं किया जा सकता। अगर समाज आधुनिक मूल्यों से युक्त, खुले विचारों वाला, संकीर्णता से मुक्त होगा तो राजनीतिक समाजीकरण सहज, स्वाभाविक ढंग से होगा।

(3) **राजनीतिक समाज के आदर्श या प्रतिमान**– राजनीतिक समाज के मूल्य या आदर्श कैसे हैं व क्या हैं– धर्मनिरपेक्षता, समानता, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र इत्यादि पर भी राजनीतिक समाजीकरण निर्भर करता है।

(4) **जनसम्पर्कों के माध्यमों और अन्य अभिकरणों की स्थिति**– भिन्न–भिन्न प्रकृति वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में जनसम्पर्क के माध्यमों की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता की स्थिति अलग–अलग प्रकार होती है। प्रेस, रेडियो टेलीविजन आदि साधन कुछ राज्यों में अधिक विकसित हो सकते हैं तथा कुछ राज्यों में कम विकसित। कुछ राज्यों में इन माध्यमों को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है अन्य कुछ राज्यों में इन्हें कम स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

(5) **राजनीतिक संस्कृति**– राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक समाजीकरण एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई स्थितियां हैं। राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी तक पहुंचाती है।

राजनीतिक समाजीकरण का महत्व

रॉबर्ट ए. डहल के अनुसार– राजनीति आज मानवीय जीवन का अपरिहार्य तत्व बन चुकी है। राजनीति में व्यक्ति अपनी उचित भूमिका का निर्वाह तभी कर सकता है जब उसको सही ज्ञान हो। यह ज्ञान राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त होता है।

राजनीतिक व्यवस्था के आदर्शों को राजनीतिक समाजीकरण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक सहभागिता और राजनीतिक भर्ती का मूल तत्व है। व्यक्ति का जितना और जिस प्रकार का समाजीकरण होगा उसी के अनुरूप सहभागिता और भर्ती होगी।

डॉ. एस.पी. वर्मा के अनुसार, "राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विशेष स्थान रखती है।"

अपनी प्रगति जांचिए

11. राजनीति विज्ञान में समाजीकरण की अवधारणा का प्रथम व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करने का श्रेय किसको जाता है?

(क) गैब्रियल आल्मण्ड (ख) हरबर्ट हाइमैन

(ग) ईस्टन (घ) आर.डी. हैस

12. व्यक्ति का सर्वप्रथम राजनीतिक समाजीकरण कहां से प्रारंभ होता है?

(क) समाज (ख) परिवार

(ग) विद्यालय (घ) इनमें से कोई नहीं

1.7 संविधानवाद

यह संविधान पर आधारित विचारधारा है। जिसका मूल अर्थ यही है कि शासन संविधान में लिखित नियमों व विधियों के अनुसार ही संचालित हो व उस पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित रहे, जिससे वे मूल्य और राजनीतिक आदर्श सुरक्षित रहें जिनके लिए समाज राज्य के बन्धन स्वीकार करता है।

जे.ए. राऊसैक के अनुसार– "यह अनिवार्य रूप से सीमित सरकार तथा शासन के रूप में नियन्त्रण की एक व्यवस्था है।"

कोरी एवं अब्राहम के अनुसार, "स्थापित संविधान के निर्देशों के अनुरूप शासन को संविधानवाद कहा जाता है।"

कार्ल जे. फ्रेडरिक के शब्दों में– "व्यवस्थित परिवर्तन की जटिल प्रक्रियात्मक व्यवस्था ही संविधानवाद है।"

संक्षेप में संविधानवाद शासन की वह पद्धति है जिसमें शासन जनता की आस्थाओं, मूल्यों और आदर्शों को परिलक्षित करने वाले संविधान के नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है तथा ऐसे संविधान के माध्यम से ही शासकों को प्रतिबन्धित और सीमित रखा जाता है जिससे राजनीतिक व्यवस्था की मूल आस्थायें सुरक्षित रहें और व्यवहार में हर व्यक्ति उन्हें प्राप्त कर सके।

अतः संविधानवाद वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसका संचालन विधियों और नियमों द्वारा होता है। यह लोकतान्त्रिक भावना और व्यवस्था पर आधारित है, जिसमें शक्तियों के केन्द्रीयकरण और निरंकुश सभ्यता का कोई स्थान नहीं है। संविधान और संवैधानिक सरकार संविधानवाद की पूर्वगामी परिस्थितियां हैं।

संविधान व संविधानवाद में अन्तर– संविधान और संविधानवाद में कई महत्वपूर्ण अन्तर हैं। कई विद्वान इस अन्तर को स्वीकार नहीं करते, जैसे सी.एफ. स्ट्रांग, कोरी अब्राहम इत्यादि लेकिन अधिकांश विद्वान ऐसा नहीं मानते।

टिप्पणी

(1) संविधान संगठन का प्रतीक है जबकि संविधानवाद विचारधारा का। संविधान में सरकार, व्यक्ति और सामाजिक संगठनों के संबंधों का वर्णन होता है। दूसरी ओर संविधानवाद में देश के मूल्य, विश्वास और राजनीतिक आदर्श आते हैं।

(2) संविधान प्रायः निर्मित होते हैं। दूसरी ओर संविधानवाद हमेशा विकास का परिणाम रहा है। मूल्यों और आस्थाओं का यह विकास परम्पराओं, संस्थाओं और शासन संबंधी तत्वों में विकास के कारण होता रहता है।

(3) प्रायः हर समाज का लक्ष्य होता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति की व्यवस्था ही संविधानवाद है। संविधान साधनयुक्त धारणा है जबकि संविधानवाद साध्ययुक्त।

(4) संविधानवाद अनेक देशों में एक जैसा हो सकता है क्योंकि संस्कृति विश्वास और मूल्य कई देशों में एक जैसे हो सकते हैं लेकिन संविधान हर देश का अलग–अलग होता है।

संविधान एवं संविधानवाद में अन्तर को स्वीकारते हुए विलियम जी. एण्ड्रूयूज लिखते हैं– "संविधान संविधानवाद की गारंटी नहीं है।"

संविधानवाद के आधार

संविधानवाद के प्रमुख आधार निम्न हैं–

(1) **संस्थाओं के ढांचे और प्रक्रियाओं पर सहमति**– आम नागरिकों में अपने देश की राजनीतिक संस्थाओं के ढांचे और प्रक्रियाओं पर सहमति संवैधानिक सरकार के लिए महत्वपूर्ण है। यदि नागरिकों की बड़ी संख्या यह अनुभव करती हो कि सरकार का तन्त्र उनके अहित में अन्यायपूर्ण ढंग से संचालित होता है तो वे सरकारी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे।

(2) **सरकार के आधार के रूप में विधि के शासन की आवश्यकता पर सहमति**– नागरिकों में इस बात पर भी सहमति पाई जानी चाहिये कि शासन के संचालन का आधार विधि का शासन होना चाहिये अर्थात् सरकार मनमाने ढंग से सत्ता का दुरुपयोग न करे बल्कि सुनिश्चित रीतियों का ही प्रयोग करे जिनमें नागरिकों का पूर्ण विश्वास हो।

(3) **समाज के सामान्य उद्देश्यों पर सहमति**– यदि समाज के नागरिकों में समाज के सामान्य उद्देश्यों पर सहमति नहीं होगी तो संघर्ष तनाव व खिंचाव की स्थिति समाज में पैदा हो सकती है जिससे संविधानवाद खतरे में पड़ सकता है।

(4) **गौण उद्देश्यों व विशिष्ट नीति प्रश्नों पर सहमति**– संविधानवाद की व्यवहार में उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि गौण उद्देश्यों व विशिष्ट नीति प्रश्नों पर भी समाज में सहमति हो। क्योंकि इन पर असहमति वह प्रारम्भिक दशा है जो संविधानवाद को खत्म करने की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

संविधानवाद के उपर्युक्त चारों आधार किसी भी राज्य में इसकी व्यावहारिक उपलब्धि की शर्त हैं।

टिप्पणी

संविधानवाद के तत्व

पिनाक व स्मिथ ने संविधानवाद के चार प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है–

(1) **संविधान अपरिहार्य संस्थाओं को अभिव्यक्त करने वाला**– संविधान द्वारा देश में सरकार की आधारभूत संस्थाओं व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका एवं प्रशासकीय सेवाओं की स्थापना एवं व्यवस्था की जाती है। संविधानवाद की मांग है कि राज्य में संविधान इन अपरिहार्य संस्थाओं की प्रभावी व्यवस्था और स्थापना करे, इनकी शक्तियों की स्पष्ट व्याख्या करे। यदि किसी संविधान द्वारा ऐसा नहीं किया जाता तो इस बात का खतरा बन जाता है कि राजनीतिक शक्तियों के प्रयोगकर्ता अपने अधिकार क्षेत्र को इच्छानुसार बढ़ाकर शासन शक्ति का दुरुपयोग करने लगेंगे।

(2) **राजनीतिक शक्ति के प्रतिबन्धक के रूप में**– इसका अभिप्राय यह है कि संविधान में नियन्त्रणों और प्रतिबन्धों की व्यवस्था होना आवश्यक है। संविधानवाद की यह आवश्यकता है कि सरकार को संवैधानिक बनाए रखा जाये अर्थात् संविधान में प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों की ऐसी व्यवस्था हो कि राजनीतिक और प्रशासनिक शक्ति का स्वेच्छाचारी प्रयोग सम्भव न हो।

(3) **संविधान विकास के निदेशक के रूप में**– इसका अभिप्राय यह है कि संविधान केवल वर्तमान में ही एक प्रभावी राजनीतिक शक्ति नहीं बना रहे वरन् यह निरन्तर गतिमान हो, उसकी सजीवता बनी रहे। संविधान में परिस्थितियों के अनुरूप ढलने और विकसित होने की क्षमता हो और ऐसी योजना तथा व्यवस्था हो कि वह परिवर्तित सामाजिक मान्यताओं, मूल्यों और आदर्शों को जीवन शक्ति देता रहे।

(4) **संविधान राजनीतिक शक्ति के संगठक के रूप में** – संविधान केवल सरकार की सीमाओं की स्थापना नहीं करता बल्कि सरकार की विभिन्न शक्तियों का लम्बात्मक (Vertical) और अम्बशंतीय (Horizonal) वितरण भी करता है। संविधान यह सुनिश्चित करता है कि सरकार के कार्य अधिकारयुक्त रहें और स्वयं सरकार वैधानिक तथा औचित्यपूर्ण बनी रहे।

संविधानवाद की सामान्य विशेषतायें

संविधानवाद की कुछ सामान्य विशेषतायें कम या अधिक रूप से प्रत्येक प्रकार के संविधानवाद में पाई जाती हैं–

संविधानवाद मूल्य सम्बद्ध अवधारणा है– संविधानवाद में उन मूल्यों, विश्वासों और राजनीतिक आदर्शों के दर्शन होते हैं जिन्हें राष्ट्र ने अपने जीवन का आधार बना रखा है। जैसे गणतन्त्र, लोकतन्त्र, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता विश्वबन्धुत्व इत्यादि। यह संवैधानिक दर्शन राजनीतिक समाज को अभिजनों द्वारा प्रदान किया जाता है।

संविधानवाद संस्कृति सम्बद्ध अवधारणा है– संविधानवाद की अवधारणा हर जगह व स्थान विशेष की संस्कृति से सम्बद्ध पाई जाती है। हर देश के आदर्श मूल्य व विचारधारायें उस देश की संस्कृति की ही उपज होते हैं।

संविधानवाद गत्यात्मक अवधारणा है– संविधानवाद में विशिष्ट बात यह है कि इसमें स्थायित्व के साथ ही साथ गत्यात्मकता भी पाई जाती है। यही कारण है कि वह प्रगति का बाधक नहीं वरन् उसका साधन बना रहता है। इसकी गतिशील प्रगति अति आवश्यक है क्योंकि समय परिवर्तन के साथ मूल्यों में परिवर्तन आता रहता है तथा संस्कृति विकसित होती है।

संविधानवाद समभागी अवधारणा है– एक राष्ट्र के मूल्य, आदर्श, विश्वास व संस्कृति के प्रति अन्य देशों में भी निष्ठा हो सकती है। अतः कई देशों के राजनीतिक आदर्श, आस्थायें व मान्यतायें समान हो सकते हैं। ऐसे देशों में संविधानवाद आधारभूत समानतायें रखता है।

संविधानवाद साध्य से सम्बन्धित अवधारणा है– यह मुख्यतः साध्यों से सम्बन्धित विचार है। यह उन आदर्शों से अधिक सम्बन्धित होता है जिन्हें नागरिक प्राप्त करना चाहते हैं।

संविधान आधारित धारणा– सामान्य परिस्थितियों में हर लोकतान्त्रिक राजनीतिक समाज के मूल्यों व गन्तव्यों का संविधान में स्पष्ट उल्लेख किया जाता है। ऐसे संविधान पर ही संविधानवाद आधारित रहता है। यही उन संस्थागत प्रक्रियाओं का संगठन व स्थापना करते हैं जिनसे संविधानवाद, व्यवहारिक व वास्तविक बनता है। कई बार ऐसा होता है कि संविधानवाद के आदर्शों का प्रतिबिम्ब संविधान में नहीं मिलता अर्थात् संविधान और संविधानवाद में परस्पर साम्य न होकर दोनों की दिशायें अलग–अलग हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में देश में राजनीतिक उथल–पुथल की सम्भावनायें प्रबल हो जाती हैं।

संविधानवाद की विभिन्न अवधारणाएं– पिनॉक व स्मिथ के अनुसार, 'उदार लोकतन्त्रों' की अवधारणा ही संविधानवाद की सही धारणा है किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। यदि संविधानवाद राजनीतिक समाज के आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं का बोध कराता है तो ये आदर्श विभिन्न राष्ट्रों में अलग–अलग हो सकते हैं। अतः भिन्न संस्कृति वाले देशों में संविधानवाद की धारणा भिन्न हो सकती है। अतः उद्देश्यों की प्राप्ति के आधार पर ही संविधानवाद की तीन धारणायें हो सकती हैं–

संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा– पाश्चात्य संविधानवाद में साध्य तत्व जिनको संविधानवाद के दार्शनिक आधार भी कहा जाता है तथा साधन तत्व सीमित सरकार जिसके लिए संविधान में संस्थागत व्यवस्थायें की जाती हैं, का वर्णन इस प्रकार है।

पाश्चात्य संविधानवाद के दार्शनिक आधार हैं–(1) व्यक्ति की स्वतन्त्रता (2) राजनीतिक समानता (3) सामाजिक–आर्थिक न्याय (4) लोक कल्याण की साधना।

उपरोक्त पाश्चात्य संविधानवाद में साध्य तत्व हैं जिन्हें उदार लोकतन्त्रों के दार्शनिक आधार के रूप में जाना जाता है।

इन दार्शनिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिए राजनीतिक शक्ति का संस्थाकरण किया जाता

टिप्पणी

है अर्थात् राजनीतिक शक्ति व्यक्तियों के स्थान पर संस्थाओं में निहित की जाती है। शक्ति को संस्थाओं में निहित करके दोहरा उद्देश्य प्राप्त किया जाता है। पहला, सरकार को सीमित रखा जाता तथा दूसरा सरकार को उत्तरदायी बनाया जाता है।

राजनीतिक शक्ति को नियन्त्रित और उत्तरदायी रखने के लिए पाश्चात्य समाजों में अनेक संस्थागत व्यवस्थायें की जाती हैं, जैसे–(i) विधि का शासन (ii) मौलिक अधिकारों व स्वतन्त्रताओं का प्रावधान (iii) राजनीतिक शक्तियों का विभाजन–शक्ति–पृथक्करण एवं नियन्त्रण–संतुलन आदि; (iv) स्वतन्त्र पव निष्पक्ष न्यायपालिका।

पाश्चात्य संविधानवाद में राजनीतिक उत्तरदायित्व को व्यवहार में प्राप्त करने के लिए राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार से बचाव की व्यवस्था की जाती है। राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार से बचाव व्यवस्था प्रतिस्पर्द्धात्मक राजनीति में निहित रहती है। प्रतिस्पर्द्धात्मक राजनीति तभी रहती है जब निम्न संस्थात्मक व्यवस्था हो–(1) नियमित चुनाव (2) राजनीतिक दलों व समूहों की स्थापना का वातावरण (3) समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता (4) लोकमत की प्रभावशीलता (5) सामाजिक बहुलवाद की विद्यमानता।

ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस, स्विट्जरलैंड आदि देशों में उपर्युक्त तत्व वहां के संविधान में मौजूद हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ये संविधान संविधानवाद की 'उदार लोकतंत्रीय' अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा

'सरकार' और राजनीतिक शक्ति के बारे में साम्यवादियों की धारणा पाश्चात्य उदारवादी धारणा से एकदम भिन्न है। साम्यवादी 'सरकार' को पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली मानते हैं। जो धनिक वर्ग की निर्धन वर्गों से रक्षा का कार्य करती है। उनके अनुसार, राजनीतिक शक्ति का आधार आर्थिक शक्ति है। जिसके हाथ में आर्थिक शक्ति होगी उसी के हाथ में राजनीतिक शक्ति भी आ जायेगी। इसलिए पूंजीपति ही राजनीतिक शक्ति के धारक व संचालक होते हैं। साम्यवादियों के अनुसार, राजनीतिक नियंत्रण आर्थिक शक्ति को नियंत्रित नहीं करते और इसलिए आर्थिक शक्ति को नियंत्रित किये बिना राजनीतिक शक्ति पर लगाये नियंत्रण न केवल भ्रमकारी हैं बल्कि व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इसलिए वे ऐसे नियंत्रणों में विश्वास करते हैं जो समाज की आर्थिक शक्ति को नियंत्रित कर सके तथा आर्थिक शक्ति किसी वर्ग विशेष के पास न रहकर सारे समाज में निहित हो जाए तथा ऐसे समाज की रचना चाहते हैं जो वर्गरहित, राज्यरहित हो तथा जिसमें हर व्यक्ति आर्थिक उत्पादन में सहभागी तथा आर्थिक दृष्टि से किसी व्यक्ति का शोषण संभव न हो। अतः संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा का स्पष्टीकरण साम्यवाद की आधारभूत मान्यता के संदर्भ में ही किया जा सकता है।

1. सामाजिक जीवन शक्ति के आर्थिक पहलू की सर्वोच्चता
2. समाज में आर्थिक शक्ति से संपन्न वर्ग का प्रभुत्व
3. राजनीतिक शक्ति का आर्थिक शक्ति के अधीन होना

आर्थिक शक्ति को सार्वजनिक सत्ता के अधीन बनाने के लिए साम्यवादी समाज में प्रायः निम्न संस्थागत व्यवस्थाओं को प्रमुखता दी जाती है।

टिप्पणी

1. उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व
2. सम्पत्ति का समान वितरण
3. साम्यवादी दल का एकाधिकार

संक्षेप में संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा पाश्चात्य संविधान की अवधारणा से भिन्न है। उसके अनुसार उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व व सम्पत्ति का समान वितरण ऐसी महत्वपूर्ण व्यवस्थायें हैं जो शक्ति के दुरुपयोग को प्रभावशाली ढंग से रोकती हैं और संविधानवाद के आदर्शों को व्यवहार में कुछ लोगों को नहीं सब नागरिकों को उपलब्ध कराती हैं।

भूतपूर्व सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी संविधानों में पाई जाने वाली संस्थात्मक व्यवस्थायें संविधानवाद को स्थापित करती हुई दिखाई देती हैं परन्तु वास्तव में इन देशों में संविधानवाद का अनुसरण नहीं होता है। राजनीतिक शक्ति के धारकों पर संवैधानिक नियन्त्रणों की सभी व्यवस्थायें केवल औपचारिकता मात्र हैं। साम्यवादी दल की सर्वोच्चता और तानाशाही के कारण ये संस्थात्मक व्यवस्थायें निरर्थक बन जाती हैं। पूर्व सोवियत संघ अथवा चीन का संविधान सही अर्थों में संविधानवाद का ही निषेध करता है।

संविधानवाद की विकासशील लोकतन्त्रों की अवधारणा

विकासशील देशों में संविधानवाद की कोई विशिष्ट पहचान बताना मुश्किल है। क्योंकि ये सभी देश और इनके संविधान विकास की प्रक्रिया में हैं। भारत जैसा विकासशील देश एक अपवाद है जिसका लिखित संविधान विश्व के किसी भी अग्रिम संविधान से कम नहीं है। लेकिन अन्य विकासशील देशों में राजनीतिक प्रक्रियायें अभी संक्रमण की अवस्था में हैं। विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं की अपनी विशिष्ट समस्यायें हैं जिससे इन देशों का संविधानवाद भिन्न प्रकृति का है। विकासशील देशों के संविधानवाद और विकसित एवं प्रगतिशील देशों के संविधानवाद की भिन्नता के लिए उत्तरदायी कुछ कारक इस प्रकार हैं–

(1) विकासशील देशों के संविधान अभी विकास की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। इनमें रोजाना संशोधन होते रहते हैं।

(2) विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति कमजोर है। संविधानवाद के सिद्धान्त को प्रभावित करने वाली यह एक मुख्य बात है। इन देशों का संविधान निश्चय ही इस प्रकार का होना चाहिये कि वह आर्थिक समस्याओं और चुनौतियों का सामना कर सके।

(3) विकासशील देशों में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता इनके संविधानवाद के मार्ग में बड़ी बाधा है जबकि ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में किसी प्रकार की राजनीतिक अस्थिरता नहीं है।

(4) नवोदित राजनीतिक समाज प्रायः "बहुल समाज" है जहां अनेक धर्म संस्कृतियां और राष्ट्रीयता पाई। इनके कारण नवोदित राजनीतिक व्यवस्था पर परस्पर विरोधी दबाव पड़ते हैं।

टिप्पणी

(5) विकासशील देशों में राजनीतिक सत्ता की वैधता की समस्या बनी रहती है। इन समाजों में शासनकर्ता या तो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव नहीं कराते और यदि कराते हैं तो प्रतिकूल परिणामों को सहजता से स्वीकार नहीं करते। इससे सरकार की सत्ता क्षीण बनती है।

(6) नवोदित राजनीतिक समाजों में राजनीतिक संरचना–विकल्पों के चुनाव की समस्या बहुत गम्भीर है। राजनीतिक विकास के संस्थात्मक मार्ग सुनिश्चित न होने के कारण वहां संविधानवाद की स्थिति स्पष्ट नहीं बन पाती।

(7) नये विकासशील राजनीतिक समाजों में आधुनिकीकरण की समस्या एक विकट समस्या है। प्राचीन और नवीन मूल्यों में संघर्ष, अनिशचितता और भ्रम व्याप्त है जो कि संविधानवाद के मार्ग में एक बड़ी बाधा है।

नवोदित विकासशील समाजों की अपनी विशिष्ट आवश्यकतायें और समस्यायें संविधानवाद की अवधारणा को अस्पष्टता और अनिश्चितता की स्थिति में ला देती हैं और सुदृढ़ संविधानवाद आधार स्थापित नहीं होने देतीं।

विकासशील देशों की उपर्युक्त समस्याओं के बावजूद संविधानवाद के कुछ स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगते हैं–

(1) विकासशील राजनीतिक समाजों में संविधानवाद प्रायः मिश्रित प्रकृति का होता है। कुछ देश पाश्चात्य व सोवियत विचारधाराओं को मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। ये स्वन्तत्रता, समानता व समाजवाद को योजनाबद्ध ढंग से लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारत में मिश्रित संविधानवाद बहुत आदर्श रूप में विकसित हुआ है।

(2) संविधानवाद निर्माण की अवस्था में है– इस संबंध में रीगिन्स ने लिखा है, "राज्य नये हैं और राजनीतिक खेल के नियम प्रवाह में हैं, अतः संविधानवाद अभी तक सुस्थिर नहीं हो सका है।

(3) संविधानवाद दिशारहित चरण में है– विकासशील राजनीतिक समाजों में कभी उदार लोकतान्त्रिक आदर्शों की ओर झुकाव होता है तो कभी साम्यवादी विचारों में निष्ठा बढ़ने लगती है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण, विकासशील राज्यों में संविधानवाद की दिशाओं में विभिन्न समयों पर परिवर्तन, एक प्रकार से दिशा शून्य ही लगता है।

(4) संविधानवाद प्रवाह के दौर में है– विकासशील राज्यों में संविधानवाद स्थिरता प्राप्त नहीं कर पाया है। राजनीतिक विकास के मार्ग में लम्बी अवधि का स्थायित्व कई बार यह भ्रम उत्पन्न कर देता है कि संविधानवादी मूल्य सुनिश्चय की अवस्था में आ गये हैं। परन्तु कई बार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जो राजनीतिक समाज के विकास के मार्ग को बदल देती हैं और संविधानवाद को प्रवाह की स्थिति में धकेल देती हैं।

संक्षेप में संविधानवाद की विकासशील राज्यों की अवधारणा में साध्य तो पाश्चात्य अवधारणा के समान हैं किन्तु साधनों की दृष्टि से यह अवधारणा साम्यवादी विचारधारा के विपरीत है।

टिप्पणी

संवैधानिक राज्य की उत्पत्ति एवं संविधानवाद का विकास

संवैधानिक राज्य और संविधानवाद का अभ्युदय एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। संवैधानिक राजनीति को उसके इतिहास के प्रत्येक युग ने उसके स्वरूप निर्धारण में कुछ न कुछ योगदान दिया है–

यूनानी संविधानवाद– संविधानवाद की उत्पत्ति प्राचीन यूनान के एथेंस के नगर राज्य में खोजी जा सकती है। यूरोप में सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिकों ने इस बात पर ध्यान दिया कि राज्य का रूप क्या होना चाहिये। उन्होंने राज्य के कार्यों और उद्देश्यों पर गम्भीर विचार किया। प्लेटो और अरस्तू ने नैतिक दृष्टि से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया था। प्लेटो ने 'अति मानव' की आवश्यकता पर जोर दिया लेकिन 'लॉज' में उसने विधि के शासन की आवश्यकता को स्वीकार किया। अरस्तू ने 158 देशों के संविधानों का अध्ययन किया और विधि के शासन की आवश्यकता पर बल दिया। यूनानियों ने संविधानवाद सम्बन्धी विचारों से राजनीतिक दर्शन को निश्चित रूप से काफी प्रेरणा दी, फिर भी आधुनिकतम संविधानवाद की लोकतान्त्रिक धारणा यूनानियों से काफी भिन्न है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ही नगर राज्य की परिधि से बाहर नहीं निकल पाये। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में अरस्तू को संविधानवाद का जनक माना जाता है।

रोमन संविधानवाद– रोमन संविधानवाद ने पाश्चात्य संसार को विधि की वास्तविकता से परिचित कराया। उन्होंने अपने कानून का संहिताकरण किया और उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्तों का निर्धारण किया जो संविधानवाद के अत्यन्त लोकप्रिय सिद्धान्तों में शामिल किया जाने लगा। रोमन लोग व्यवहारकुशल अधिक और काल्पनिक कम थे इसलिए उन्होंने शासकों की शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए गणतन्त्रात्मक संविधान की रचना की।

रोमन विचारकों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि वह कानूनी शक्ति का स्रोत जानता है।

मध्यकालीन संविधानवाद– मध्ययुग में सामन्तशाही और चर्च का बोलबाला रहा। शासन की शक्तियों के संबंध में दैवी सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। शासक की शक्तियों को असीमित माना गया और कहा गया कि वह अपने कार्यों के लिए केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। इस प्रकार की परिस्थितियों में संविधानवाद का विकास अवरुद्ध हो गया। सामन्तवाद की प्रणाली कहीं–कहीं राजतन्त्र (उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड) में परिवर्तित हो गई। पहले स्वेच्छाचारी राजतन्त्र और फिर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्पेन में राजपद द्वारा केन्द्रीयकरण की प्रगति सामन्तवाद की बुराइयों को समाप्त करने और एक राष्ट्रीय नीति की नींव डालने में सहायक बनी। इसी युग का परिषदीय आन्दोलन संविधानवाद के विकास के लिए महत्वपूर्ण रहा है। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन की आन्तरिक राजनीति से आधुनिक राज्य का बीजारोपण हो गया था। ब्रिटेन में राजाओं के दैवी अधिकारों के स्थान पर संसद की सार्वभौमिकता स्थापित हुई। अमेरिका के वातावरण में बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं का नारा दिया गया। फ्रांस में स्वतन्त्रता, समानता तथा 'मातृत्व' के नारों ने निरंकुश राजतन्त्र पर तीव्र प्रहार किया और संविधानवाद का नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ।

टिप्पणी

बीसवीं शताब्दी में संविधानवाद– उन्नीसवीं शताब्दी में उदारवादी सुधार तथा राष्ट्रवाद की मान्यता के लिए संघर्ष हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मध्यम–वर्ग को मताधिकार प्राप्त हुआ तथा मजदूरों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसने राजनीतिक अधिकारों के उपभोग की मांग की और आधुनिक लोकतन्त्र की रक्षा के लिए सुदृढ़ साधन का निर्माण किया गया।

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध लिखित संविधान का युग था। आज के संविधान में इंग्लैण्ड और अमरीका के संविधान को छोड़कर अन्य कोई संविधान उन्नीसवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संविधानवाद– प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 'राष्ट्रसंघ' की स्थापना संविधानवाद के इतिहास में अभूतपूर्व व्यवस्था थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संविधानवाद– द्वितीय विश्व युद्ध के बाद परिणाम अफ्रीका और एशिया के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। युद्ध के बाद इन देशों से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इन देशों में संविधानवाद के कई महत्वपूर्ण प्रयास किये गये। नवोदित राज्यों में से कई देशों ने ब्रिटिश या अमरीकी शासन व्यवस्था को अपनाया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कर शान्ति एवं सुरक्षा के उपायों को संवैधानिक ढंग से प्रभावी बनाने का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किया गया।

संविधानवाद का भविष्य : समस्यायें और समाधान

संविधानवाद के विकास के मार्ग में विभिन्न देशों में समय–समय पर अनेक बाधायें उपस्थित होती रहती हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) सबसे महत्वपूर्ण बाधा युद्ध है। युद्ध की सम्भावना के समय प्रत्येक सरकार अपने कार्यों के लिए पूरी–पूरी आजादी की मांग करती है और जनता प्रायः बन्धनकारी शासन के लिए तैयार हो जाती है और ऐसी स्थिति में संविधानवाद शिथिल हो जाता है।

(2) संविधानवाद की दूसरी महत्वपूर्ण बाधा निरंकुशतावाद है। चाहे वह सर्वाधिकारवाद हो या साम्यवाद, नाजीवाद, फासीवाद। इन शासन व्यवस्थाओं का संविधानवाद से मेल नहीं हो सकता।

(3) आधुनिक संसदीय प्रणालियों की केन्द्रीय संस्थाओं के पास इतना अधिक कार्यभार है जिसके कारण उनके पास शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता चला जाता है। शक्तियों का केन्द्रीयकरण संविधानवाद के मार्ग को अवरुद्ध करता है।

(4) एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि एक बार किसी कारणवश अस्थायी रूप से स्थगित संवैधानिक शासन की पुनर्स्थापना कठिन हो जाती है। युद्ध अथवा किसी संकट के समय संवैधानिक शासन को स्थगित किया जाना गलत नहीं है लेकिन जिन लोगों को यह विशेष अधिकार सौंपे जाएं, हो सकता है वे बाद में छोड़ने को राजी न हों। इससे संविधानवाद को क्षति पहुंचती है।

संविधानवाद की समस्याओं का निराकरण– संविधानवाद के मार्ग में आने वाली समस्याओं का निराकरण करने और इसके अधिकाधिक प्रसार के लिए कुछ प्रभावशाली कदम उठाये जाने आवश्यक हैं जो इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

(1) शिक्षित समाज में नागरिक समूह प्रभुसत्तात्मक राज्य को स्वीकार कर सके इसके लिए यह आवश्यक है कि वह उन्हें विश्वास दिलाये कि अपने राजनीतिक भाग्य के अन्तिम निर्माता वे स्वयं ही हैं।

(2) अराजकता की स्थिति से बचने के लिए राज्य को प्रभुसत्तात्मक शक्तियां अपने पास सुरक्षित रखनी होंगी।

अपनी प्रगति जांचिए

13. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में संविधानवाद का जनक समझा जाता है–
    (क) प्लेटो (ख) अरस्तू
    (ग) एक्वीनास (घ) सिसरो
14. निम्न में से कौन–सा लेखक संविधान और संविधानवाद में अन्तर नहीं मानता?
    (क) सी.एफ. स्ट्रांग (ख) विलियम सी. एण्ड्रयूज
    (ग) के.सी. (घ) ब्लोण्डेल
15. किस लेखक का कथन है? संविधान संविधानवाद की गारन्टी नहीं है?
    (क) कौरी तथा अब्राहम (ख) गार्नर
    (ग) कार्ल जे. फ्रेडरिक (घ) विलियम जी. एण्ड्रयूज
16. निम्न में से संविधानवाद की एक प्रमुख समस्या है–
    (क) युद्ध एवं तनाव का वातावरण (ख) सीमित शासन
    (ग) विधि के अनुकूल शासन (घ) प्रगतिशील शासन

1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (ग)
3. (ग)
4. (क)
5. (ग)
6. (क)
7. (ख)
8. (घ)
9. (क)
10. (ग)
11. (ख)

12. (ख)
13. (ख)
14. (क)
15. (ख)
16. (क)

1.9 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यापक रूप से प्रयोग होने वाले आधुनिक दृष्टिकोण एवं उपागम विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन को प्रस्तुत कर यथार्थवादी आधार पर तुलना को सम्भव बनाते हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम ने तुलनात्मक राजनीतिक में अन्तःअनुशासनात्मक अध्ययन को सम्भव बनाया है। विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का यथार्थवादी अध्ययन करने में राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण की अवधारणाओं एवं दृष्टिकोणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम ने राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकार्यों के आधार पर अध्ययन सम्भव बनाया है। आधुनिक समय में राजनीति शास्त्र के विद्धान तथा दार्शनिक इस विषय पर एकमत है कि राजसत्ता को एक ऐसी संवैधानिक विधि अथवा व्यवस्था के अधीन रखा जाये जिससे इसके दुरुपयोग की सम्भावनायें न रहे और व्यक्ति की स्वतन्त्रता, नागरिक अधिकार सुरक्षित रहे। इसलिए संविधानवाद विश्व के सभी लोकतान्त्रिक देशों के लिए अनिवार्य है।

राजनीतिक समाजशास्त्र ऐसा विषय है जो राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के परस्पर प्रभाव का अध्ययन करता है। इसकी विषयवस्तु इन दोनों विषयों के विचार–क्षेत्र में आती है। सामाजिक प्रणाली एक विस्तृत व्यवस्था है और राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक उपव्यवस्था है। अतः राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था के परस्पर संबंध, परस्पर क्रिया और परस्पर प्रभाव का पता लगाने की कोशिश की जाती है। यह समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान के अंतर्विषयक अध्ययन का क्षेत्र है।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में इतना गहरा संबंध है कि प्रारम्भिक लेखक अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की शाखा मानते थे। प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने राजनीति पर जो पुस्तक लिखी उसका नाम अर्थशास्त्र है। अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' तथा लाक की पुस्तक 'नागरिक प्रशासन पर द्वितीय लेख' में उन विषयों का विवेचन मिलता है जिन्हें आजकल अर्थशास्त्र के विषय माना जाता है।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण या उपागम राजनीति विज्ञान में समाजशास्त्र से आया है। यद्यपि इसका प्रयोग मानवशास्त्र में इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ही होने लगा था किन्तु राजनीति विज्ञान में इस प्रकार उपागम का प्रयोग व्यवस्था विश्लेषण की अवधारणा के प्रचलन के बाद अधिक लोकप्रिय हुआ। व्यवस्था विश्लेषण

की अवधारणा के प्रचलन के बाद अधिक लोकप्रिय हुआ। व्यवस्था विश्लेषण का एक मॉडल ईस्टन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसको सामान्यतया राजनीतिक व्यवस्था का निवेश–निर्गत मॉडल कहा जाता है। व्यवस्था विश्लेषण का दूसरा मॉडल आल्मण्ड के द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा इसको राजनीतिक व्यवस्था की संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक व्याख्या कहा जाता है। अतः संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम व्यवस्था विश्लेषण का एक विशिष्ट रूप में प्रयोग है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था को संरचनाओं और प्रकार्यों के रूप में परिभाषित किया है। किन्तु प्रमुख अवधारणा राजनीतिक व्यवस्था की ही रहती है इसलिए इसे तुलनात्मक राजनीति में व्यवस्था विश्लेषण के अन्दर ही दूसरा उपागम माना जाता है।

राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में अब तुलनात्मक राजनीति का सम्पूर्ण अध्ययन करना सम्भव हो गया है। विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हैं तो समष्टिवादी विश्लेषण और व्यष्टिवादी विश्लेषण को एक साथ मिलाना सम्भव होता है। तुलनात्मक राजनीति के वास्तविक अध्ययन के लिए राजनीतिक संस्कृति की धारणा को विकसित करने के प्रयासों को जन्म दिया। इस दिशा में आरम्भिक महत्वपूर्ण सहयोग ग्रैब्रियल आल्मण्ड ने दिया जिसे इस धारणा को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। इस धारणा को लोकप्रिय बनाने का श्रेय कोलमैन, पावेल, वर्बा, ल्यूसियन पाई, डेनिस कवॉना तथा कई अन्य आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिकों को जाता है।

राजनीति विज्ञान में समाजीकरण की अवधारणा का प्रथम व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करने का श्रेय हरबर्ट हाइमैन को प्राप्त है। इसके बाद गैब्रियल आल्मण्ड, ईस्टन और आर.डी. हैस आदि ने एक धारणा के रूप में राजनीतिक समाजीकरण की व्याख्या प्रस्तुत की। एक धारणा के रूप में राजनीतिक समाजीकरण को राजनीति संबंधी मूल्यों, मान्यताओं और आस्थाओं से जोड़ा जाता है।

संविधानवाद शासन की वह पद्धति है जिसमें शासन जनता की आस्थाओं, मूल्यों और आदर्शों को परिलक्षित करने वाले संविधान के नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है तथा ऐसे संविधान के माध्यम से ही शासकों को प्रतिबन्धित और सीमित रखा जाता है जिससे राजनीतिक व्यवस्था की मूल आस्थायें सुरक्षित रहें और व्यवहार में हर व्यक्ति उन्हें प्राप्त कर सके।

1.10 मुख्य शब्दावली

- **अन्तर्विषयक या अन्तःअनुशासनात्मक**– किसी विषय पर अन्य विषय के प्रभावों एवं बाह्य कारकों के प्रभावों का अध्ययन जैसे राजनीति पर समाज एवं अर्थव्यवस्था के प्रभावों का अध्ययन।
- **राजनीतिक व्यवस्था**– उन संरचनाओं और प्रक्रियाओं का समुच्चय जिनके माध्यम से समाज में राजनीति के उद्देश्य पूरे किये जाते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में

टिप्पणी

व्यवस्था उन तत्वों का समूह है– एक दूसरे से सम्बद्ध हों। एक दूसरे पर आश्रित हों, और एक दूसरे से अन्तःक्रिया करते हों।

- **राजनीतिक विकास**– वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से किसी विकासशील देश का समाज विकसित समाज की विशेषतायें अर्जित कर लेता है। ल्यूशियन पाई ने इसकी तीन विशेषतायें, जनता के स्तर समानता, राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता, अलग–अलग कार्यों के लिए संरचनाओं के विभिन्नीकरण की बात कही है।
- **आधुनिकीकरण**– वह प्रक्रिया है जिसमें कोई समाज परम्परागत मूल्यों और संस्थाओं से आगे बढ़कर आधुनिक युग के अनुरूप जीवन पद्धति अपना लेता है।
- **आगत या निवेश कार्य**– इसके अन्तर्गत समाज से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश करने वाली क्रियाओं और गतिविधियों को सम्मिलित किया जाता है।
- **निर्गत कार्य**– यह सत्ताधारकों के वे कार्य हैं जिनके द्वारा शासक जिनके द्वारा शासन राजनीतिक समुदाय की मांगों को या स्वयं उन्हीं के द्वारा प्रस्तावित मांगों को रूपान्तरण प्रक्रिया के माध्यम से पूरा करने का प्रयत्न करते हैं।
- **विधि का शासन**– कानून का शासन जिसमें शासन की शक्ति का प्रयोग केवल कानून में निहित प्रक्रियाओं, सिद्धान्तों और प्रतिबन्धों के अन्तर्गत होना चाहिये।
- **अभिजन**– समाज के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ थोड़े से लोगों का वर्ग जिनके पास क्षमता होती है और इस कारण उन्हें समाज में सर्वोच्च नेतृत्व का अधिकार मिल जाता है।
- **पूंजीवाद**– पूंजीवाद वह आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली है जो मुख्यतः औद्योगिक क्रान्ति के बाद विकसित हुई। इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन वितरण और विनिमय के साधन स्वामित्व में रहते हैं।
- **बुर्जवा वर्ग**– मार्क्सवाद के अनुसार पूंजीवाद के अन्तर्गत बड़े–बड़े पूंजीपतियों का वह वर्ग जो उत्पादन के प्रमुख साधनों पर अपना स्वामित्व और नियन्त्रण स्थापित कर लेता है।
- **सर्वहारा वर्ग**– मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार पूंजीवाद के अन्तर्गत यह वह वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है और पूंजीपति वर्ग के शोषण का शिकार है। यह केवल अपनी श्रमशक्ति के बल पर जीवन निर्वाह करता है।
- **व्यवस्थापन**– कानून निर्माण।
- **भर्ती**– किसी भी व्यवस्था के लिए चयन या उसमें प्रवेश।
- **अन्तर्निर्भरता**– एक–दूसरे पर निर्भरता की स्थिति।
- **पराश्रितता सिद्धान्त**– यह एक नवमार्क्सवादी सिद्धान्त है जो समकालीन विश्व के समृद्ध देशों और विकासशील देशों के परस्पर संबंधों का विश्लेषण करता है।

- **उदार लोकतंत्र**– पश्चिमी देशों में प्रचलित लोकतंत्र को उदार लोकतंत्र की संज्ञा दी जाती है जिसमें एक से अधिक राजनीतिक दल हों, चुनाव नियमित रूप से हों व सभी के लिए अवसर हो, सार्वजनिक व्यस्क मताधिकार हो, नागरिक स्वतंत्रताएं व जनसंपर्क के साधनों इत्यादि की व्यवस्था हो।
- **संवैधानिक राजतंत्र**– ऐसी शासन प्रणाली जिसमें राजा या सम्राट नाममात्र को राज्य का अध्यक्ष होता है, शासन की वास्तविक शक्तियां अन्य अंगों जैसे मंत्रिमंडल या संसद में निहित रहती हैं।
- **सामंतवाद**– मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित वह राजनीतिक व्यवस्था जिसके अंतर्गत राज्य–शक्ति स्थानीय जमींदारों, जागीरदारों, मनसबदारों इत्यादि में बंटी रहती थी।
- **सत्ता**– जब शक्ति को वैधता प्राप्त हो जाती है तो इसे सत्ता का नाम दिया जाता है। कानूनी तथा उचित शक्ति ही सत्ता है।

1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक समाजशास्त्र उपागम का अर्थ एवं महत्व बताइये।
2. संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं?
3. राजनीतिक संस्कृति के प्रकारों का वर्णन कीजिये।
4. राजनीतिक समाजीकरण की विशेषताओं को समझाइये।
5. संविधानवाद से आप क्या समझते हैं?
6. संविधान और संविधानवाद में अंतर बताइये।
7. संविधानवाद की समस्याओं के निराकरण हेतु प्रमुख उपाय बताइये।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक अर्थशास्त्र उपागम की व्याख्या कीजिये।
2. आल्मण्ड के अनुसार संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम को समझाइये।
3. राजनीतिक संस्कृति के निर्माणकारी तत्वों को स्पष्ट कीजिये।
4. राजनीतिक समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों को स्पष्ट कीजिये।
5. संविधानवाद की पाश्चात्य लोकतंत्रों की अवधारणा की व्याख्या कीजिये।

टिप्पणी

1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गेना, सी.बी., "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं" विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली, 2002।
2. शर्मा, प्रभुदत्त, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें" कालेज बुक डिपो, जयपुर।
3. जौहरी, जे.सी. "तुलनात्मक राजनीति" स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई दिल्ली।
4. वर्मा, एस. एल., उच्चतर आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।
5. गाबा, ओमप्रकाश, "तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा", मयूर पेपर वैक्स नोएडा।
6. डॉ. धर्मवीर, "राजनीतिक समाजशास्त्र", राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

इकाई 2 अभिजन वर्ग, राजनीतिक दल, दबाव समूह एवं सामाजिक आंदोलन

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 वर्ग एवं राजनीतिक अभिजन
2.3 राजनीतिक दल
2.4 दबाव समूह
2.5 सामाजिक आंदोलन
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली
2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामाग्री

2.0 परिचय

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यवहारवाद और उत्तरव्यवहारवाद ने तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन में उल्लेखनीय परिवर्तन किए हैं। अब राजनीति की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले सभी कारकों, तत्वों, संरचनाओं के अध्ययन पर बल दिया जाता है। राजनीति को अब एक समूह घटना माना जाता है जिसमें समूहों में संगठित लोग राजनीतिक प्रक्रियाओं में लगे रहते हैं और इसके माध्यम से वे सरकार द्वारा अधिकृत नीतियों को इच्छानुसार बनवाने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल, दबाव समूह, अभिजन वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के बिना नहीं हो सकता तथा दबाव समूहों की नीतियों तथा निर्णयों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका है। किसी राज्य की राजनीतिक शक्ति चाहे वह लोकतंत्रीय हो या नहीं, सदैव नेतृत्व करने वाले अल्पसंख्यकों के हाथों में रहती है जिसे हम अभिजन कहते हैं।

प्रस्तुत इकाई में वर्ग, राजनीतिक अभिजन्य, राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा सामाजिक आंदोलनों से संबंधित तथ्यों का अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक अभिजन वर्ग का अभिप्राय एवं अभिजन के संबंध में विभिन्न विचारकों के विचारों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- राजनीतिक दलों की विशेषताएं एवं दलीय व्यवस्था के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कर पाएंगे;

- दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों में अंतर कर दबाव समूहों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाएंगे;
- सामाजिक आंदोलन की विशेषताओं एवं कारणों को समझ पाएंगे।

टिप्पणी

2.2 वर्ग एवं राजनीतिक अभिजन

वर्गों की उपस्थिति सार्वभौमिक है। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं है जिसमें वर्ग न पाये जाते हों। प्राचीनकाल से ही आयु, लिंग, शिक्षा, आय, व्यवसाय एवं धर्म आदि के आधार पर वर्गों का निर्माण होता रहा है। वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनकी समान सामाजिक प्रस्थिति होती है। जब जन्म को छोड़कर अन्य किसी आधार पर समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित किया जाता है तो ऐसे प्रत्येक समूह को सामाजिक वर्ग कहते हैं। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर वर्ग की परिभाषा दी है–

सामाजिक आधार पर वर्ग की परिभाषा– इस आधार पर यह माना गया है कि समान सामाजिक प्रस्थिति वाले समूह ही समाज में वर्गों का निर्माण करते हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार– "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का योग है, जिनकी एक दिये हुए समाज में अनिवार्य रूप से समान सामाजिक स्थिति होती है।"

मैकाइवर एवं पेज के शब्दों में– "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके।"

उपरोक्त परिभाषायें वर्ग का आधार सामाजिक प्रस्थिति को मानती हैं।

आर्थिक आधार पर वर्ग की परिभाषा– एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों अथवा परिवारों का योग है जिनकी आर्थिक स्थिति लगभग समान होती है।

मार्क्स के अनुसार– "जीविका–उपार्जन के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक–पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। उनके अनुसार एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों और संपत्ति के वितरण के साथ होने वाले संबंधों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।"

सांस्कृतिक आधार पर वर्ग की परिभाषा– वर्ग के सांस्कृतिक आधारों का उल्लेख करने वालों में गिन्सबर्ग, लेपियर, ओतसन आदि समाजशास्त्री प्रमुख हैं।

गिन्सबर्ग के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवनयापन की विधियों, विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों और व्यवहारों में एक दूसरे के समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक–दूसरे से समानता अनुभव करते हुए अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।"

वर्ग के बारे में मुख्यतः सी. राइट मिल्स, परेटो, मैक्स वेबर एवं कार्ल मार्क्स के अध्ययन महत्वपूर्ण हैं।

वर्ग की संकल्पना मुख्यतः आर्थिक संकल्पना है। मार्क्सवाद केवल दो वर्ग स्वीकार करता है– धनवान और निर्धन। मार्क्सवाद के अनुसार, इन दोनों के हित सदैव एक–दूसरे के विरुद्ध होते हैं, अतः इनका संघर्ष एक चिरंतन प्रक्रिया है। इस संघर्ष का अंतिम समाधान सर्वहारा की क्रांति है जिसमें धनवान वर्ग पर निर्धन वर्ग की विजय

अवश्यंभावी है। इसके परिणामस्वरूप अंततः वर्ग व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी।

परंतु समाज की बहुलवादी स्वरूप की संकल्पना ऐसे दो वर्गों को स्वीकार नहीं करती बल्कि उसमें यह मानकर चलते हैं कि समाज सामाजिक–आर्थिक स्तरों पर अनेक श्रेणियों में बंटा रहता है।

टिप्पणी

वर्ग की विशेषताएं

वर्ग की अवधारणा को समझने के लिए वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है–

1. **वर्गों की श्रेणी**– समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है। जिसमें कुछ वर्ग ऊपर एवं कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्नतम स्थान पर होते हैं। उच्च वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति अन्य वर्गों की तुलना में सर्वाधिक होती है और उसके सदस्यों की संख्या भी कम होती है।
2. **समान प्रस्थिति**– एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। प्रस्थिति निर्धारण के कई आधार हैं, जैसे–शिक्षा, संपत्ति, व्यवसाय, जाति, इत्यादि।
3. **वर्ग चेतना**– प्रत्येक वर्ग के लोगों में वर्ग चेतना पाई जाती है। यह वर्ग चेतना उनके व्यवहारों एवं वर्ग के पारस्परिक संबंधों को भी तय करती है। वर्ग चेतना के आधार पर ही एक वर्ग दूसरे वर्गों से प्रतिस्पर्द्धा करता है। वे अपने अधिकारों के प्रति भी सजग होते हैं। मजदूर वर्ग, शिक्षक, महिलायें, किसान, व्यापारी इत्यादि विभिन्न वर्गों के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए परस्पर सहयोग करते हैं।
4. **सीमित सामाजिक संबंध**– एक वर्ग के लोगों के सामाजिक संबंध प्रायः अपने वर्ग तक ही सीमित रहते हैं। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समानता के कारण एक वर्ग के लोगों के संबंध अपने ही वर्ग में अधिक पाये जाते हैं।
5. **खुलापन**– वर्ग व्यवस्था जाति की भांति कठोर एवं बंद न होकर एक मुक्त व्यवस्था है। इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आ जा सकता है।
6. **परिवर्तनशीलता**– शिक्षा, व्यवसाय, धन एवं शक्ति आदि जिनके आधार पर वर्गों का निर्माण होता है, परिवर्तनशील हैं।
7. **उपवर्ग**– वर्गों में भी उपवर्ग पाये जाते हैं। शिक्षा के आधार पर उच्चशिक्षित, मध्यमशिक्षित एवं शिक्षा के निम्न स्तर के आधार पर वर्ग बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति के आधार भी उपवर्गों का निर्माण किया जा सकता है।

रॉबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग विभाजन के सात आधारों का उल्लेख किया है–

1. सम्पत्ति धन एवं आय
2. परिवार एवं नातेदारी
3. निवास की स्थिति

4. निवास–स्थान की अवधि
5. व्यवसाय की प्रकृति
6. शिक्षा
7. धर्म

अभिजनः अवधारणा एवं व्याख्या

किसी राज्य की राजनीतिक शक्ति चाहे वह लोकतंत्रीय हो या नहीं, सदैव लोगों के एक छोटे से समूह, नेतागण या नेतृत्व करने वाले अल्पसंख्यकों के हाथों में रहती है। प्रतिनिधि लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग निर्वाचित उच्च नेताओं के समूह द्वारा किया जाता है और एक सर्वसत्तावादी शासन में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग निर्वाचित उच्च नेताओं के समूह द्वारा किया जाता है।

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में जो लोग अपनी विशिष्ट योग्यताओं, कार्यक्षमताओं, कार्यक्षमता, नेतृत्व आदि गुणों के कारण देश की राजनीति और सामाजिक व्यवस्था में अपना प्रभाव स्थापित कर लेते हैं, राजनीति की भाषा में ऐसे वर्ग को राजनीतिक अभिजन कहते हैं।

'अभिजन वर्ग' शब्द का अर्थ शब्दकोष में इस प्रकार है–'जनसंख्या में चुना गया तत्व' अतः समाज में चुने गये तत्वों के समूह को विशिष्ट वर्ग कहा जाता है। एक विशिष्ट वर्ग जनसंख्या का अल्प भाग होता है लेकिन यह शक्ति का केंद्र होता है। 'चुने गये तत्व' वे व्यक्ति होते हैं जो समाज में दूसरों से उच्च स्थान रखते हैं।

जी.डी.एच. कोल के शब्दों में, "चुना गया वर्ग बड़े परिवार, क्लब, ट्रेड यूनियन, नौकरशाही सेना आदि में अस्तित्व रख सकता है जो नेतृत्व की स्थिति तक उभरे एक समूह के रूप में प्रदर्शित होता है और प्रत्येक सामाजिक स्तर पर प्रभावी होता है।

राजनीति के संदर्भ में विशिष्ट वर्ग को राजनीतिक विशिष्ट कहा जाता है और यह उन लोगों से बनता है जिनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया जाता है। अल्पसंख्यक समूह होने के बावजूद यह राजनीतिक शक्ति के सभी प्रभावशाली केंद्रों को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित करता है।

लासवेल डेनियल लरनर, परेटो, मोस्का, मिशेल्स, सी. राइट मिल्स आदि विद्वानों ने अभिजन वर्ग की व्याख्या की है।

परेटो के अनुसार– "अभिजन वे सफल लोग हैं जो सबसे ऊपर आ जाते हैं।"

मिचेल्स ने अभिजनों की परिभाषा इस प्रकार दी है– "अभिजन संगठित अल्प समूह हैं जो एक सी अंतःप्रेरणा से प्रेरित रहते हैं और असंगठित बहुसंख्यकों पर आधिपत्य जमाये रहते हैं।"

सी. राइट मिल्स के अनुसार– "विशिष्ट वर्ग के लिए 'शक्ति विशिष्ट' के नाम का प्रयोग किया जाता है। वे इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं–"वे व्यक्ति जो आज्ञा देने वाले पदों पर आसीन होते हैं।"

अभिजन की धारणा नई नहीं है। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार, अभिजन वर्ग हमेशा से ही समाज में उपस्थित रहा है। इन दोनों ही चिंतकों के अनुसार शासन करने

के गुण तो केवल कुछ ही लोगों में पाये जाते हैं। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 17वीं शताब्दी में हुआ पर इसका प्रयोग इसी शताब्दी में अधिक हुआ।

टिप्पणी

डॉ. एस.पी. वर्मा के अनुसार, "राजनीतिक अभिजन सिद्धांत का विकास 1950 के दशक में अमेरिका में समाज विज्ञानवादियों–शुम्पीटर जैसे अर्थशास्त्रियों, लासवेल जैसे राजनीतिशास्त्रियों और सी. राइट मिल्स जैसे समाजशास्त्रियों के द्वारा विभिन्न रूपों में हुआ। अभिजन सिद्धांत का प्रतिपादन अनेक यूरोपीय विचारकों द्वारा फासीवाद से पूर्व ही किया जा चुका था। इनमें प्रमुख इटली के विलफ्रेडो परेटो, गीटानो मोस्का, रॉबर्ट मिशेल्स, जार्ज ऑर्टेगा, वाई. गैसेट हैं।"

राजनीतिक अभिजनों की धारणा को अधिक सुनिश्चित रूप देने में सी. राइट मिल्स, हंटर और लासवेल का भी प्रमुख हाथ रहा है।

राजनीतिक अभिजन वर्ग की विशेषतायें

राजनीतिक अभिजन वर्ग की अनिवार्य विशेषतायें या लक्षण निम्नलिखित हैं–

1. एक राजनीतिक अभिजन वर्ग कुछ लोगों का समूह होता है जो समाज के चुने हुए तत्वों से बनता है।
2. एक लोकतंत्रीय व्यवस्था के राजनीतिक–विशिष्ट वर्गों के पीछे जनता की सामान्य स्वीकृति तथा समर्थन होता है।
3. अधिकार चुनावों द्वारा ही राजनीतिक विशिष्ट वर्ग अपनी लोकप्रियता स्थापित करते हैं और समाज में शक्ति प्रयोग का अधिकार प्राप्त करते हैं।
4. एक राजनीतिक विशिष्ट वर्ग को उच्च स्थान प्राप्त होता है और वह निर्णय लेने वाले तंत्र पर नियंत्रण रखता है।
5. विशिष्ट वर्ग शक्ति तथा प्रभाव प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि वे कुछ श्रेष्ठ गुण रखते हैं, जैसे–बुद्धिजीवी स्तर, योग्यता, प्रशासनिक क्षमता, उच्च स्थान, सैन्य शक्ति, लोकप्रिय औचित्यपूर्णता, विश्वसनीयता, नैतिक सत्ता आदि।
6. एक समाज में कई तरह के विशिष्ट वर्ग होते हैं जैसे प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग, शक्ति विशिष्ट वर्ग, राष्ट्रीय विशिष्ट वर्ग, उच्च स्थिति रखने वाले विशिष्ट वर्ग आदि। इनके अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक अभिजन वर्ग इत्यादि। ये विभिन्न तरह के विशिष्ट वर्ग अपनी–अपनी गतिविधियों के क्षेत्र में उच्चतम स्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
7. एक लोकतंत्रीय व्यवस्था में अभिजन वर्गों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है।
8. लोकतंत्र में राजनीतिक अभिजन वर्ग उन लोगों से बनते हैं जिन्हें जनता ने चुना हो। राजनीतिक अभिजन वर्ग लोगों के नाम पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं।
9. अभिजन वर्ग की धारणा यह स्वीकार करती है कि समानता की प्रत्येक बात या आदर्श के पीछे वास्तव में असमानता होती है। विशिष्ट वर्ग जनता पर शासन करते हैं तथा वे जनता पर लोकप्रिय इच्छा सामान्य इच्छा या 'शासितों की स्वीकृति' के नाम पर शक्ति का प्रयोग करते हैं।

टिप्पणी

10. अभिजन वर्ग प्रत्येक समाज में उभरते तथा विकसित होते हैं और शक्ति के लिए स्पर्धा करते हैं।
11. लोकतंत्रीय व्यवस्थाओं में राजनीतिक वर्गों की सदस्यता सभी लोगों के लिए खुली होती है। अभिजन वर्ग में परिवर्तन तथा प्रवाह सदैव चलता रहता है।

राजनीतिक अभिजनों के प्रकार एवं परिवर्तनशीलता

अभिजन समाज के सभी क्षेत्रों में विद्यमान होते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जो व्यक्ति अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण अन्य साधारण जनों से आगे निकल जाते हैं, उन्हें राजनीतिक अभिजन की संज्ञा प्रदान की जाती है। धर्म के क्षेत्र में भी ऐसे श्रेष्ठ जन होते हैं। प्रशासनिक क्षेत्र में जो लोग श्रेष्ठ होते हैं उन्हें प्रशासकीय अभिजन कहा जाता है। राजनीतिक क्षेत्र में भी अभिजन दो प्रकार के होते हैं–

1. शासकीय अथवा शक्ति अभिजन
2. प्रति अभिजन

1. **शासकीय अथवा शक्ति अभिजन**– इन्हें गवर्निंग पावर ऐलिट भी कहा जाता है। शासकीय अभिजन राजनीतिक व्यवस्था में विधि–सम्मत तथा वास्तविक निर्णयकर्ताओं को कहा जाता है। यह राजनीतिक व्यवस्था पर पहुंचे उन लोगों का वर्ग है जो विधिवत सत्ता के धारक होते हैं। इन्हें ही औपचारिक रूप से निर्णय लेने का अधिकार होता है। ये अपने निर्णयों को लागू करवाते हैं और जनता की आज्ञाकारिता हासिल करते हैं। ये बल प्रयोग का अधिकार रखने के कारण, आवश्यकता पड़ने पर या इसकी धमकी देकर या वास्तव में इसका प्रयोग कर व्यवस्था को एक सूत्र में पिरोये रखते हैं। यह बहुसंख्यक वर्ग से अलग पहचान और उससे अलगाव सा रखते हैं। ये संख्या में मुट्ठी भर होते हैं तथा संपूर्ण राज सत्ता पर अपना नियंत्रण रखते हैं।
2. **प्रति अभिजन**– इनको काउन्टर ऐलिट भी कहा जाता है। यह राजनीतिक अभिजनवर्ग का वह अंश है जो सत्ता में नहीं होता है। या तो ये लोग पहले सत्तारूढ़ अभिजन रहे होते हैं या अवसर आने पर सत्ता में आने के लिए तैयार रहते हैं। इन्हें विपक्षी दल या प्रतिपक्ष भी कहा जाता है। यद्यपि ये वास्तव में निर्णय प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं होते किंतु निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते रहते हैं। विकल्प के रूप में इनका सत्ता संभालने के लिए तत्पर रहना मात्र सत्तारूढ़ अभिजनों के निर्णय लेने के कार्य को मर्यादित कर देता है। यह संभावित सत्ताधारक होते हैं।

अभिजन वर्ग में परिवर्तन या अभिजन वर्ग का परिसंचरण

अभिजन की धारणा के संबंध में एक महत्वपूर्ण विचार अभिजन वर्ग में परिवर्तन या अभिजन वर्ग का परिसंचरण है। 'अभिजन वर्ग में परिवर्तन' का यह विचार ही अभिजन वर्ग की धारणा को कुलीनतंत्र और वर्गतंत्र से अलग कर उसे लोकतंत्र के अनुकूल बना देता है। इसमें अभिजनवर्ग का सिद्धांत दूसरे अभिजनवर्ग के द्वारा ग्रहण किया जाता है। अभिजनों के संचालन से आशय है कि राजनीतिक अभिजन स्थायी नहीं होते, उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। पुराने भ्रष्ट होकर पतित हो जाते हैं उन्हें हटाना पड़ता है। परेटो

टिप्पणी

के शब्दों में, "प्रत्येक समाज में व्यक्ति और अभिजन वर्ग अनवरत रूप से ऊंचे स्तर से नीचे स्तर की ओर, नीचे स्तर से ऊंचे स्तर की जाते रहते हैं। पतन कारक तत्वों की संख्या बढ़ती रहती है और दूसरी ओर, शासित वर्गों ऊंचे गुणों से सम्पन्न तत्व उभरते हैं।" परेटो का मानना है कि, "इस प्रक्रिया के माध्यम से समाज का प्रत्येक अभिजन वर्ग अंततः नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर दूसरे लोग आ जाते हैं। यही अभिजनों के संचालन का सिद्धांत है।" परेटो के अनुसार, "कभी शासक वर्ग के विभिन्न समूहों तक अर्थात ऊपर के अभिजन वर्ग में से ही अन्य लोग इनका स्थान ले लेते हैं परंतु कभी–कभी अभिजन वर्ग और गैर–अभिजन वर्गों के बीच परिवर्तन होता है। इसमें व्यक्ति निम्न स्तर से ऊपर उठकर तत्कालीन अभिजन वर्ग में आ जाते हैं और यह नये अभिजन वर्ग का निर्माण करते हैं।" परेटो के अनुसार, "क्रांति तब होती है जब व्यक्तियों की स्थिति में परिवर्तन की गति बहुत धीमी हो जाती है।"

परेटो की शिष्या मेरी कोलाबिन्सका ने अभिजन वर्ग में परिवर्तन के तीन रूप बताये हैं–

1. जिसमें अभिजनवर्ग और अन्य व्यक्ति ही परस्पर स्थिति बदलते हैं।
2. निम्न वर्ग के व्यक्ति विद्यमान अभिजन वर्ग में प्रवेश प्राप्त करने में सफल रहते हैं।
3. निम्न वर्गों में रहने वाले व्यक्ति नवीन विशिष्ट समुदायों का निर्माण कर सकते हैं, जो कि विद्यमान विशिष्ट वर्ग के साथ सत्ता में रत हो सकते हैं। मोस्का, पिरेने और शुम्पीटर परस्पर अनेक बातों पर असहमत होते हुए भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समाज में नवीन समुदायों का निर्माण हो सकता है। जीवन मूल्य परिवर्तित होने के साथ अभिजन वर्ग भी परिवर्तित होता है।

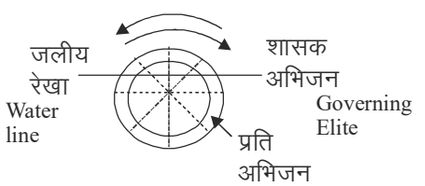

चित्र

एस.ई. फाइनर ने अभिजन से संबंधित समस्त स्थिति को एक विभिन्न फांकों (Slices) वाले संतरे के आधार पर सुंदर ढंग से समझाने का प्रयास किया है जो इस प्रकार है– इस संतरे की चमड़ी (छिलका) समाज का अभिजन है और यह संतरा पानी में तैर रहा है। इस चमड़ी का जो भाग जलीय रेखा से ऊपर है, वह शासक अभिजन है। इस भाग के खंड समाज के उन समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो नेतृत्व की प्रतियोगिता में सफल रहे हैं और जिनके द्वारा सरकारी पद प्राप्त कर लिए गए हैं। सभी खंड जो जलीय सीमा के अंदर हैं उन समुदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो इस प्रतियोगिता में पराजित हुए हैं और जिनकी नीतियों के स्थान पर विजेता वर्ग की नीतियों को अपनाया गया है और छिलके का वह भाग जो इसे ढके हुए हैं

टिप्पणी

प्रति–अभिजन (Counter-Elite) अर्थात् वर्तमान अभिजन का विरोधी है और जो शासक अभिजन की पदच्युति के लिए प्रयत्नशील है।

एस.ई. फाइनर द्वारा की गई इस व्यवस्था में 'अभिजन वर्ग में परिवर्तन' (Circulation of Elites) का भाव निहित है। जिस प्रकार हवाओं आदि के कारण जल में संतरे की स्थिति परिवर्तित होती रहती है, उसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप समाज के अंतर्गत अभिजन में परिवर्तन होते रहते हैं।

विलफ्रेडो परेटो का अभिजन सिद्धांत (1848–1923)

परेटो का अभिजन सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि लोग अपनी मौलिक योग्यताओं में एक–दूसरे से भिन्न होते हैं तथा यह विशेषता समाज में असमानता को अनिवार्य बना देती है। प्रत्येक समाज में एक अल्पसंख्यक समूह होता है जो प्रभावशाली ढंग से शासन करता है और शक्ति तथा प्रभाव का प्रयोग करता है। परेटो के अभिजन संबंधी विचारों का अध्ययन निम्न बिंदुओं के अंतर्गत किया जा सकता है–

1. **सामाजिक विशिष्ट वर्ग और प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग**– परेटो विशिष्ट वर्गों का वर्गीकरण सामाजिक विशिष्ट वर्ग एवं प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग में करता है। सामाजिक विशिष्ट वर्गों में सफल व्यापारी, कलाकार, राजनीतिज्ञ, वकील इंजीनियर आदि होते हैं, प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग में वे कुछ व्यक्ति होते हैं जो सफल होते हैं और जो राजनीतिक तथा सामाजिक रूप में प्रशासकीय कार्य करते हैं।
2. **परेटो द्वारा समाज का दो स्तरों में विभाजन**– परेटो कहता है कि समाज की जनसंख्या दो स्तरों में विभाजित होती है–(1) निचला स्तर (आम जनता तथा गैर विशिष्ट वर्ग) और (2) ऊपरी स्तर (विशिष्ट वर्ग या शासक विशिष्ट वर्ग) अर्थात (1) शासकीय अभिजन वर्ग (2) गैर–शासकीय अभिजन वर्ग। शासकीय विशिष्ट वर्ग के पास शासन शक्ति होती है और वह इसका प्रयोग करता है और गैर–शासकीय विशिष्ट वर्ग सभी योग्य तथा सफल व्यक्तियों का समूह होता है।
3. **शासकीय अभिजन वर्ग की विशेषतायें**– शासकीय अभिजन वर्ग में मानसिक तथा शारीरिक आदर्श गुण होते हैं। यह शेर तथा लोमड़ी के गुणों का एक आदर्श मेल होता है। इनमें सदस्य शासन के लिए बल का प्रयोग करते हैं और अपने शासन को न्यायसंगत ठहराने के लिए तर्क का प्रयोग का प्रयोग करते हैं। शासकीय अभिजन वर्ग अपने समाजों पर शासन करने के लिए निचले स्तर के लोगों पर बल तथा समर्थन जीतने के लिए प्रचार, दोनों का प्रयोग करते हैं।

विशिष्ट वर्गों के प्रवाह की धारणा

परेटो के अनुसार, "इतिहास कुलीनतंत्रों का कब्रिस्तान है।" पुराने अभिजन वर्ग सदैव अपने स्थान नये अभिजन वर्ग को दे देते हैं। वे परिवर्तनशील होते हैं, स्थिर नहीं। प्रत्येक समाज में व्यक्ति तथा विशिष्ट वर्गों का निम्न स्तर से उच्च स्तर तक तथा उच्च स्तर से निम्न स्तर तक प्रवाह कभी समाप्त नहीं होता। परेटो ने विशिष्ट वर्गों में विभिन्न प्रकार के प्रवाहों की व्याख्या की है–(1) शासकीय विशिष्ट वर्गों के ही विभिन्न वर्गों में

टिप्पणी

प्रवाह (2) विशिष्ट वर्ग तथा जनसंख्या में प्रवाह। दूसरे प्रकार में इस प्रकार स्थिति हो सकती है–(1) निम्न परत के व्यक्तियों का वर्तमान विशिष्ट वर्ग में प्रवेश (2) निम्न परत के व्यक्तियों के नये अभिजन वर्ग का निर्माण तथा वर्तमान विशिष्ट वर्ग के साथ शक्ति के लिए संघर्ष में जुट जाना। परेटो विशिष्ट वर्गों के विभिन्न वर्गों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से आने वाले परिवर्तनों के आधार पर प्रशासकीय विशिष्ट वर्ग में गिरावट आने की व्याख्या करता है।

परेटो अभिजन वर्ग के संदर्भ में 'अवशेषों की धारणा' को विकसित करता है। अवशेष से परेटो का अर्थ है– श्रेष्ठ गुण जिनके माध्यम से एक व्यक्ति जीवन में उन्नति कर सकता है। वह अवशेषों की छः किस्मों की व्याख्या करता है लेकिन प्राथमिक महत्व दो को ही देता है– सम्मिलन का अवशेष चतुराई और जोड़ का अवशेष–बल। इसी प्रकार, शासकीय विशिष्ट वर्ग भी दो प्रकार के होते हैं– एक जो सम्मिलन के अवशेष के आधार पर राज्य करते हैं। ऐसा शासकीय अभिजन वर्ग, जिसके पास ये दोनों गुण हैं, सर्वोत्तम होता है। परेटो का विश्वास है कि अभिजन वर्ग का प्रवाह क्रांतियों को रोकने तथा सामाजिक गतिशीलता बनाये रखने में बहुत सहायक होता है।

अतः परेटो अभिजन वर्ग के सिद्धांत को, समाज के सदस्यों की असमान योग्यताओं पर आधारित स्वाभाविक विभाजन के तौर पर प्रस्तुत करता है।

गिटेनो मोस्का (1858–1941) का अभिजन सिद्धांत

मोस्का अपनी पुस्तक 'The Ruding Elite' में अभिजन वर्ग और उसके प्रवाह का सिद्धांत प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि केवल एक ही प्रकार की सरकार हुई है और हो सकती है और वह है अल्पतंत्र।

मोस्का कहता है, "कम विकसित समाज से लेकर पूर्णतया विकसित समाज तक, प्रत्येक समाज में लोगों के सदैव दो वर्ग उभरते हैं–एक वर्ग जो शासन करता है और दूसरा जो शासित होता है। पहला वर्ग जो सदैव संख्या में कम होता है, सभी राजनीतिक कार्य करता है, शक्ति पर एकाधिकार रखता है और शक्ति द्वारा प्राप्त लाभ का आनंद लेता है जबकि दूसरा वर्ग, जिसमें बहुत संख्या में लोग होते हैं, पहले द्वारा निर्देशित तथा नियंत्रित किया जाता है।" मोस्का ने अभिजन वर्ग के संगठित रूप को महत्वपूर्ण माना है। मोस्का का कहना है कि एक तरफ तो अभिजन वर्ग संगठित होता है और बहुसंख्यक वर्ग असंगठित होता है इसलिए उनके सामने इस वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही उन्मुख होता है। मोस्का के अनुसार, "प्रत्येक समाज में शासक वर्ग अपने को सत्ता में बनाये रखने के लिए एक नैतिक और कानूनी आधार खोज निकालने का प्रयत्न करता है।"

परेटो द्वारा बताये गये परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक कारणों में मोस्का कुछ सामाजिक कारण जोड़कर अभिजनों के परिवर्तनों के विचार से सहमत रहता है। अभिजन वर्ग एक स्थिर बंद समूह नहीं होता। यह परिवर्तनशील होता है। मोस्का ने अभिजन तथा अभिजनेतर जनता के मध्य सुव्यवस्थित संबंध स्थापित करते हुए समाज के दो वर्ग बतलाये– शासक वर्ग और शासित वर्ग।

सी. राइट मिल्स का अभिजन सिद्धांत

सी. राइट मिल्स अभिजन वर्ग या शासक वर्ग की अपेक्षा शक्ति अभिजन शब्द का प्रयोग करता है। अपनी रचना 'The Power Elite' में वह अपना विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वह शक्ति शब्द में आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक धारणाओं को मिलाकर शक्ति अभिजन शब्द का प्रयोग करता है। शक्ति अभिजन वर्ग उन लोगों द्वारा मिलकर बनता है जो आधुनिक समाज के प्रमुख अनुक्रमों तथा संगठनों के शासन में अत्यंत प्रभावकारी निर्णय लेने की स्थिति में होते हैं।

रॉबर्ट मिशेल्स का कुलीन तंत्र का लौह नियम

मिशेल्स कुलीन तंत्र के लौह नियम में विश्वास रखता है। जिसके अनुसार प्रत्येक समाज को अल्पसंख्यकों द्वारा अर्थात एक विशिष्ट वर्ग द्वारा शासित किया जाता है। यह नियम इतिहास के लौह नियमों में से एक है जिससे अत्याधुनिक लोकतांत्रिक समाज तथा उन समाजों के अंतर्गत अतिविकसित दल भी बच पाने के अयोग्य रहे हैं। मिशेल्स के अनुसार वास्तव में एक लोकतांत्रिक व्यवस्था एक दलीय व्यवस्था होती है जिसमें दल शासन करता है और दल के संगठन को नेताओं का एक समूह नियंत्रित करता है।

मिशेल्स लिखते हैं, "ये नेता एक बार सत्ता में आ जाते हैं तो कोई भी उन्हें शक्ति के शिखर के स्थान से हटा नहीं सकता।" यह कुलीन तंत्र का लौह नियम कहलाता है। उसके अनुसार, "नेताओं के प्रभुत्व को नियंत्रित करने के लिए यदि कानून बनाये जाते हैं तो धीरे–धीरे वे कानून भी कमजोर पड़ जाते हैं, परंतु नेताओं के प्रभुत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। मिशेल्स नेताओं के सत्ता में बने रहने के लिए दो बातों में उनकी निपुणता मानता है। एक तो वे लोगों की चापलूसी में माहिर होते हैं और दूसरे भाषणबाजी से लोगों को बहकाकर अपने पक्ष में कर लेने में उनकी दक्षता होती है।"

लासवेल, आर्टेगा वाई. गैसेट, बर्नहाम का अभिजन सिद्धांत

लासवेल भी समाज को जनता और अभिजन वर्ग में विभक्त मानता है। उसके अनुसार, राजनीतिक अभिजन वे लोग होते हैं जिन्हें समाज में सब कुछ मिला है, स्वयं समाज ने इन्हें सब कुछ दिया है। किंतु उसकी मान्यता है कि इन्होंने यह सब योग्यता के कारण प्राप्त किया है और इसी आधार पर समाज ने इनका सत्कार किया है। लासवेल यहां सत्ता को बनाये रखने में शक्ति की धारणा का समावेश करता है। लासवेल की अभिजन सिद्धांत में प्रमुख देन राजनीतिक अभिजनों के निर्णयों में जन स्वीकृति की धारणा है।

आर्टेगा वाई. गैसेट

अपने विशिष्ट वर्ग के सिद्धांत को जनता के सिद्धांत पर आधारित मानता है। उसके अनुसार, एक राष्ट्र की महानता इसके लोगों, जनता, भीड़ जनसमूहों की ऐसे निश्चित तथा चुने हुए लोगों में अपना प्रतीक प्राप्त करने की क्षमता पर निर्भर करती है जिन पर यह अपने महत्वपूर्ण जोश के विस्तृत भंडार को उड़ेल देती है। "जनता स्वयं ही निर्णय करती है कि उसके नेता कौन होंगे और चुनने के बाद वही उन्हें अपना समर्थन देकर सत्ता में बनाये रखती है। एक व्यक्ति संपूर्ण रूप से समाज में न केवल अपने व्यक्तिगत

गुणों के कारण ही बल्कि जनता द्वारा उसमें डाली गई सामाजिक शक्ति के कारण अधिक प्रभावशाली होता है।

टिप्पणी

बर्नहाम

बर्नहाम ने अभिजन सिद्धांत में आर्थिक पक्ष को जोड़ा है। उसके अनुसार, राजनीतिक नेतृत्व उन्हीं को मिलता है जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होते हैं। उसके अनुसार, वर्तमान की पूंजीवादी व्यवस्था में राजनीतिक व आर्थिक शक्तियां घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई होती हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता। अभिजनों के वर्ग का आधार ही आर्थिक सम्पन्नता होती है।

अभिजन की धारणा और लोकतंत्र

अभिजन की धारणा और लोकतंत्र एक दूसरे के अनुकूल हैं अथवा नहीं इस संबंध में दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। प्रथम विचार के अनुसार अभिजन की धारणा और लोकतंत्र के विचार में विरोध है और यह विरोध दो रूपों में देखा जा सकता है–(1) प्रजातंत्र का विचार व्यक्तियों की मूलभूत समानता में विश्वास करता है, लेकिन अभिजन की धारणा व्यक्तियों की असमानता पर आधारित है। (2) प्रजातंत्र बहुमतशासन के विचार पर आधारित है लेकिन अभिजन वर्ग की धारणा अल्पसंख्यक शासक वर्ग पर आधारित है।

द्वितीय धारणा के अनुसार, प्रजातंत्र और अभिजन की धारणा में परस्पर कोई विरोध नहीं है। प्रजातंत्र को सिद्धांत रूप में भले ही समस्त 'जनता का शासन' या बहुमत का शासन कहा जाये लेकिन व्यवहार में बहुमत वर्ग के द्वारा प्रभावदायक शासन नहीं होता। प्रजातंत्र का महत्व इस बात में निहित है कि समाज के अंतर्गत शक्ति के स्थान सिद्धांत रूप में प्रत्येक के लिए खुले होते हैं। शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता होती रहती है। लोकतंत्र में बहुमत के द्वारा इस शासक वर्ग को पदच्युत किया जा सकता है या बहुमत के हित में निर्णय लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इस प्रकार अवसरों की समानता तथा खुली प्रतियोगिता के आधार पर ये विचारक अभिजन वर्ग का लोकतंत्र के साथ तालमेल स्थापित करते हैं। शुम्पीटर, कार्लमैनहाइम आदि के द्वारा इसी धारणा को अपनाया गया है।

अभिजन सिद्धांत और समाजवादी धारणा

परेटो, मोस्का, मैक्स वेबर और मिशेल्स आदि के द्वारा अभिजन वर्ग की धारणा का जो प्रतिपादन किया गया है उसका मुख्य उद्देश्य मार्क्सवादी समाजवाद का खंडन करना था। अभिजन सिद्धांत के इन प्रतिपादकों ने मार्क्सवाद के दो मूल आधारों पर आक्रमण किया।

1. अभिजनवादियों का मानना है कि मार्क्स की 'शासक वर्ग' की धारणा गलत है क्योंकि शासक वर्ग में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं और स्थाई या बंद शासक वर्ग जैसी कोई चीज नहीं है।
2. वर्गविहीन समाज असंभव है क्योंकि समाज में न तो वर्ग कभी समाप्त हुए हैं और न ही हो सकते हैं।

टिप्पणी

अंतरिम काल में मार्क्स सर्वहारा के अधिनायकवाद की बात करता है लेकिन व्यवहार के अंतर्गत प्रत्येक समाज में एक अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा ही शासन किया जा सकता है।

मार्क्स तो वर्ग की धारणा में उच्चता के केवल आर्थिक तत्व को महत्व देता है लेकिन अभिजनवादी लेखकों के अनुसार, 'वर्ग' की धारणा में श्रेष्ठता आर्थिक तत्व के अतिरिक्त सैनिक, धार्मिक, सामाजिक और शक्ति संबंधी अन्य तत्वों पर भी निर्भर करती है।

सैद्धांतिक दृष्टि से अभिजन सिद्धांत और मार्क्सवादी धारणा में परस्पर विरोध देखा जा सकता है लेकिन 'वर्गविहीन समाज' और सर्वहारा का अधिनायकवाद में भी विशिष्ट अल्पसंख्यक वर्ग के द्वारा ही शासन किया जाता है।

विकासशील देशों में अभिजन की भूमिका

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों में ब्रिटेन और अन्य यूरोपियन देशों का जो साम्राज्यवाद था, उसका अंत कर राष्ट्रीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने का कार्य अभिजन वर्ग के द्वारा ही किया गया। भारत, इंडोनेशिया, श्रीलंका, मिस्र, घाना और अन्य एशियाई अफ्रीकी देशों में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास इसी वर्ग के द्वारा निर्मित किया गया है। एडवर्ड शिल्स ने अपनी पुस्तक 'Intellectuals in the Political development of the New States' में राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास की तीन अवस्थाओं (1) संवैधानिक उदारवाद (2) राष्ट्रवाद एवं पुनरुत्थानवाद तथा (3) सम्प्रभु स्वतंत्र राज्य में इसकी भूमिकाओं का विश्लेषण किया है। प्रायः सभी विकासशील देशों के अभिजनों को तीन स्तरों पर विभाजित किया जा सकता है–

1. प्रथम स्तर के अभिजन उच्चस्तरीय बुद्धिजीवियों के रूप में नवीन विचारों के सृजन और आर्थिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में नवीन तकनीकों को अपनाने का कार्य करते हैं। दार्शनिक, वैज्ञानिक, लेखक, कलाकार, धार्मिक नेता और राजनीतिक टीकाकार इस श्रेणी में आते हैं।
2. मध्यस्तरीय अभिजनों में वे बुद्धिजीवी अभिजन आते हैं जो पत्रकारिता अध्ययन प्रकाशन और उद्योग धंधों के प्रबंध इत्यादि कार्यों में संलग्न हैं।
3. तृतीय श्रेणी के अभिजन गांवों और छोटे नगरों में रहते हुए अपना कार्य करते हैं।

विकासशील देशों के पुनरुत्थान में अभिजन वर्ग की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है लेकिन अभिजन वर्ग को संकुचित दृष्टिकोण न अपनाकर व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा और संपूर्ण समाज के उत्थान के लिए काम करना होगा।

निष्कर्ष

प्रत्येक व्यवस्था और यहां तक कि लोकतंत्र में भी अभिजनों की विशिष्ट भूमिका है। इस भूमिका को समाप्त नहीं किया जा सकता और न ही यह समाज के हित में है। इसके लिए आवश्यक है कि अभिजनों की भूमिका को नई दिशा प्रदान की जानी चाहिए–

1. अभिजन वर्ग में परिवर्तन की गति को तीव्र बनाने का प्रत्येक संभव प्रयत्न किया जाना चाहिए। परिवर्तन की गति जितनी अधिक तीव्र होगी समाज उतना अधिक गतिशील होगा।

2. अभिजन और समाज के सामान्य व्यक्तियों में अंतर को कम करने प्रयास किया जाना चाहिए।

3. अभिजन पर किसी न किसी रूप में समाज के सामान्य व्यक्तियों का नियंत्रण बना रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि सामान्य जनता अपनी उदासीनता को दूर कर सार्वजनिक जीवन के प्रति अधिक से अधिक रुचि ले और नेतृत्व के प्रति उत्तरदायित्व की मांग करे।

टिप्पणी

उपरोक्त संदर्भों में ही अभिजन सिद्धांत को लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में लागू किया जा सकता है। समकालीन युग निर्वाचित अभिजन वर्ग का युग है परंपरागत अल्पतंत्रीय अभिजन वर्गों का नहीं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. मार्क्सवाद समाज में कितने वर्गों को स्वीकार करता है?
   (क) दो (ख) तीन
   (ग) चार (घ) पांच
2. अभिजन वे सफल लोग हैं जो सबसे ऊपर आ जाते हैं। यह परिभाषा है–
   (क) मोस्का (ख) परेटो
   (ग) रॉबर्ट मिशेल्स (घ) सी. राइट
3. सी. राइट मिल्स ने अभिजन के लिए किस शब्द का प्रयोग किया है?
   (क) शक्ति अभिजन (ख) शासक अभिजन
   (ग) अशासक अभिजन (घ) प्रतिअभिजन
4. कुलीन तंत्र का लौह नियम किस विचारक के द्वारा प्रतिपादित किया गया है?
   (क) परेटो (ख) मोस्का
   (ग) लासवेल (घ) रॉबर्ट मिशेल्स

2.3 राजनीतिक दल

उदार लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि इसमें एक से अधिक राजनीतिक दल रहते हैं और ये दल शक्ति प्राप्त करने के लिए एक–दूसरे के साथ स्वतंत्र रूप से प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं।

राजनीतिक दल आधारभूत समस्याओं के संबंध में विचारों की एकता पर आधारित ऐसे संगठित समुदाय होते हैं जिनके द्वारा अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए केवल संवैधानिक उपायों को अपनाकर शासन शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है और जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित में वृद्धि होता है।

एडमण्ड वर्क के अनुसार– राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धांत के आधार पर जिस पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता से बंधे होते हैं।

टिप्पणी

गैटिल के अनुसार– एक राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य मतदान की शक्ति के आधार पर सरकार पर नियंत्रण करना तथा अपनी सामान्य नीतियों को कार्यान्वित करना होता है।

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व

राजनीतिक दलों के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं–

1. **संगठन**– राजनीतिक दलों की शक्ति संगठन पर ही निर्भर होती है अतः राजनीतिक दल भली प्रकार संगठित होने चाहिए।
2. **सामान्य सिद्धांतों की एकता**– राजनीतिक दलों की आधारभूत बातों के संबंध में एकता होना आवश्यक है। विषयों के विस्तार के संबंध में मतभेद हो सकते हैं।
3. **संवैधानिक साधनों में विश्वास**– राजनीतिक दलों के लिए यह आवश्यक है कि वह हमेशा संवैधानिक साधनों का प्रयोग करें। मतदान और मतदान निर्णय में उनका हमेशा विश्वास होना चाहिए।
4. **शासन पर प्रभुत्व की इच्छा**– राजनीतिक दलों का एक मुख्य तत्व यह होता है कि उनका उद्देश्य शासन पर प्रभुत्व स्थापित कर अपनी नीतियों एवं विचारों को कार्यरूप में परिणत करना होता है।
5. **राष्ट्रीय हित**– राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि उनके द्वारा किसी जाति, धर्म या वर्ग के हित को दृष्टि में न रखकर वरन् संपूर्ण राष्ट्र के हित को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति या निर्माण का आधार

आधुनिक समय के राजनीतिक दल जनतंत्र और एकाधिकार के साथ–साथ विकसित हुए हैं–

1. राजनीतिक दलों की उत्पत्ति में मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता का महत्वपूर्ण योगदान है। परिस्थितियों में परिवर्तन और आयु में वृद्धि के साथ मानव स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है और परिवर्तित परिस्थितियों में विचार भेद के कारण, नए राजनीतिक दलों का जन्म होता है।
2. भारत और एशिया के अनेक देशों में ही नहीं यूरोप में राजनीतिक दलों का निर्माण धार्मिक एवं सांप्रदायिक आधारों पर हुआ है। भारत में अनेक दल इसी आधार पर गठित हैं। फ्रांस के दक्षिणपंथी दल, कैथोलिक विचारधाराओं के तथा वामपंथी चर्च विरोधी दल धार्मिक दलों के उदाहरण हैं।
3. राजनीतिक दलों के निर्माण में अन्य तत्वों की अपेक्षा आर्थिक तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भारत में कांग्रेस दल प्रजातांत्रिक समाजवाद की स्थापना को प्रयत्नशील रहता है। ब्रिटेन में श्रमिक दल पिछड़े वर्ग के उत्थान तथा अनुदारवादी दल गैर सरकारी संपत्ति की राज्य के हस्तक्षेप से मुक्ति जमींदारों और पूंजीपतियों के हितों की रक्षा आदि के लिए प्रयत्नशील रहता है।

टिप्पणी

4. नेताओं के व्यक्तित्व राजनीतिक दलों को जन्म देते हैं। भारत के अनेक क्षेत्रीय दलों के संदर्भ में यह बात देखी जा सकती है–आंध्र प्रदेश में तेलगूदेशम, महाराष्ट्र में शिवसेना, तमिलनाडु में जयललिता के नेतृत्व में अन्नाद्रमुक पार्टियां इसका उदाहरण हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों के उद्‌भव में अनेक तत्व अपना योगदान देते हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य

राजनीतिक दलों के कार्यों को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है–

1. **लोकमत का निर्माण**– वर्तमान समय में राज्य संबंधी विषय बहुत जटिल और व्यापक होते हैं और साधारण व्यक्ति के लिए इन विषयों को समझना संभव नहीं होता है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक दल सार्वजनिक समस्याओं को जनता के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि साधारण जनता उन्हें समझ सके।
2. **चुनावों का संचालन**– चुनावों के समय राजनीतिक दल अपने दल की ओर से उम्मीदवारों को खड़ा करते हैं और उनके पक्ष में प्रचार करते हैं। चुनाव के समय होने वाली भारी खर्च भी इन राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है। विशाल लोकतंत्रात्मक राज्यों में राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में चुनावों का संचालन असंभव है।
3. **सरकार का निर्माण**– संसदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में सरकार का निर्माण और शासन व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के आधार पर ही किया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति अपने विचारों से सहमत व्यक्तियों की मंत्रिपरिषद का निर्माण कर शासन का संचालन करता है। संसदात्मक शासन में जिस राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त हो उसके प्रधान द्वारा मंत्रिपरिषद का निर्माण करते हुए शासन का संचालन किया जाता है।
4. **शासन सत्ता को मर्यादित करना**– शासन व्यवस्था में बहुसंख्यक राजनीतिक दल के साथ–साथ अल्पसंख्यक राजनीतिक दल भी बहुत अधिक महत्व रखते हैं। बहुसंख्यक राजनीतिक दल शासन सत्ता के संचालक का कार्य करता है तो अल्पसंख्यक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासन शक्ति को सीमित रखता है।
5. **सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय**– संसदीय शासन में सामान्यतया कानून निर्माण और प्रशासन की शक्ति एक ही राजनीतिक दल के हाथ में होती है और दलीय अनुशासन के कारण कार्यपालिका व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकती है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों में जहां पर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दो बिल्कुल पृथक अंग होते हैं, राजनीतिक दलों की सहायता के बिना शासन का संचालन संभव नहीं हो सकता।
6. **राजनीतिक चेतना का प्रसार**– राजनीतिक दल नागरिक चेतना और राजनीतिक शिक्षा के अत्यंत महत्वपूर्ण साधन के रूप में कार्य करते हैं।

टिप्पणी

सार्वजनिक समस्याओं के संबंध में किए गए निरंतर प्रचार और वाद–विवाद के आधार पर वे सामान्य जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करते हैं।

7. **शासन और जनता के बीच संबंध**– प्रजातंत्र में जिस दल के हाथ में राजनीतिक शक्ति होती है, उसके सदस्य जनता के मध्य सरकारी नीति का प्रचार करते हैं तथा जनमत को अपने पक्ष में रखने का प्रयत्न करते हैं। विरोधी दल शासन के दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा शासन व्यवस्था से संबंधित सभी प्रकार के कार्य किये जाते हैं। हूबर के अनुसार, प्रजातंत्रीय यंत्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।

दलीय प्रणाली का मूल्यांकन

राजनीतिक दलों के मूल्यांकन के संबंध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद हैं। एक ओर दलीय व्यवस्था के समर्थकों द्वारा इनको लोकतंत्र का मूलाधार माना गया है तो दूसरी ओर कुछ विद्वान इन्हें राष्ट्रीय एकता के लिए घातक मानते हैं।

राजनीतिक दलों के लाभ

राजनीतिक दलों की उपयोगिता को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है–

1. **लोकतंत्र के रक्षक**– राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतांत्रिक सरकार का संचालन संभव नहीं। राजनीतिक दल न होने पर यह स्थिति हो जायेगी कि व्यवस्थापिका में जितने सदस्य होंगे उतने ही मत होंगे।
2. **जनमत में सहायक**– राजनीतिक दलों के द्वारा देशभर में बिखरी हुई जनता के एक सामान्य सिद्धांत पर सहमति के निकट लाया जाता है और उस सिद्धांत को क्रियात्मक बनाने का प्रयत्न किया जाता है।
3. **सरकार पर अंकुश**– दल प्रणाली पर आश्रित सरकार स्वेच्छाचारी नहीं हो पाती क्योंकि प्रत्येक दल को उस लोकमत का ध्यान रखना पड़ता है जिस पर उसका भविष्य निर्भर रहता है। विपक्षी दलों की सशक्त भूमिका सरकार पर पर्याप्त अंकुश लगाती रहती है।
4. **वर्ग हितों की अनदेखी**– यदि दल नहीं होंगे तो निर्वाचित प्रतिनिधि अपने स्वार्थ साधन के लिए गुट बना लेंगे और जनहित की उपेक्षा करेंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों के स्थान पर निश्चित और कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने की पद्धति राजनीतिक दलों के अस्तित्व में ही संभव है।
5. **राष्ट्रीय एकता में सहायक**– यह प्रणाली व्यक्तियों को संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर देश और राष्ट्र के कल्याण के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार यह समाज में उस व्यापक दृष्टिकोण की सृष्टि करने में सहायक होती है जिससे राष्ट्रीय एकता के बंधन दृढ़ हो जाते हैं।
6. **स्थिरता में सहायक**– राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार की स्थिरता नष्ट हो जाएगी। दलीय पद्धति चुनाव परिणामों के आधार पर स्थिर सरकारों को जन्म देती है।

टिप्पणी

7. **नागरिक चेतना**– राजनीतिक दल नागरिकों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं तथा जनता में सार्वजनिक कार्यों और समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं।
8. **आलोचना का भय**– राजनीतिक दलों के अस्तित्व के फलस्वरूप ही व्यवस्थापिका में एक सजग विरोधी दल रहता है जो सरकार के प्रत्येक काम पर दृष्टि रखता है।
9. **नागरिकों का व्यापक दृष्टिकोण**– सामुदायिक, धार्मिक और जातीय दृष्टिकोण से समस्याओं को देखने समझने में राजनीतिक सहायक होते हैं।
10. **रचनात्मक कार्यों में सहायक**– राजनीतिक दलों के अपने शोध विभाग होते हैं जिनका राजनीति से विशेष संबंध नहीं होता। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दलों के अपने शोध विभाग होते हैं जो महत्वपूर्ण अनुसंधानों द्वारा आकड़े तथा सूचनाओं का संग्रह करते हैं।

राजनीतिक दलों से हानि

राजनीतिक दलों से होने वाली हानि को हम निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देख सकते हैं–

1. **आलोचना में समय नष्ट**– विरोधी दल अधिकतर आलोचना में अपना समय नष्ट करते हैं। वाद–विवादों में अपने सिद्धांतों की पुष्टि के समय वे जनहित को भूल जाते हैं। अतः विधानमंडल ऐसे अखाड़े बन जाते हैं जहां राष्ट्र–हित को भुलाकर, वाद–विवादों द्वारा आपसी उखाड़–पछाड़ होती है।
2. **राजनीतिक गुटबन्दी**– राजनीतिक दल गुटबन्दियों को बढ़ाते हैं। ब्राइस ने अमेरिका के दो प्रमुख दलों की उन दो खाली बोतलों से तुलना की है जिनमें जब तक उनका नाम है किसी प्रकार का द्रव भरा सकता है।
3. **लोकतंत्र के विकास में बाधक**– राजनीतिक दल के सदस्यों को सार्वजनिक क्षेत्र में अपने विचार को त्यागकर दल की बातों का समर्थन करना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति दलीय यंत्र के चक्र का ऐसा भाग बनकर रह जाता है जो पहिये के साथ ही चल सकता है। गिलबर्ट के अनुसार, "मैंने हमेशा दल की पुकार पर ही मतदान किया अपने संबंध में विचार करने के लिए कतई नहीं सोचा।"
4. **राष्ट्रीय हितों को हानि**– व्यवहार में व्यक्ति अनेक बार अपने राजनीतिक दल के इतने भक्त हो जाते हैं कि वे जाने अनजाने में दल के हितों को राज्य के हितों से अधिक प्राथमिकता दे देते हैं, जिससे राज्य के हितों को अपार हानि पहुंचती है।
5. **शासन कार्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा**– दलीय व्यवस्था के कारण कई बार श्रेष्ठ व्यक्ति देश की सेवा नहीं कर पाते। सर्वोत्तम व्यक्ति न तो जी हजूरी कर सकते हैं और न ही विचार और कार्य की स्वतंत्रता छोड़ सकते हैं। इस प्रकार राजनीति में योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा होती है और अयोग्य व्यक्तियों को प्रशासनिक ढांचे में स्थान मिल जाता है।
6. **भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना**– व्यवहार में राजनीतिक दलों द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान न करके झूठे भाषणों और बकवास के द्वारा भोली–भाली जनता को धोखे में डालने का प्रयास किया जाता है।

टिप्पणी

राजनीतिक दल अपने स्वार्थ के लिए झूठ को सच और सच को झूठ कहने में जरा भी संदेह नहीं करते।

7. **सामान्य नैतिक स्तर में गिरावट**– व्यवहार में, राजनीतिक दलों का एकमात्र उद्देश्य किसी भी प्रकार से शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके द्वारा नैतिक–अनैतिक सभी प्रकार के उपाय अपना लिए जाते हैं।
8. **समय और धन का अपव्यय**– दलीय व्यवस्था के कारण व्यवस्थापिका सभाओं में विरोधी दल विरोध के लिए विरोध की प्रवृत्ति अनपा लेता है। दलीय ढांचे के कारण जितनी बड़ी मात्रा में धनराशि का अपव्यय होता है उसे यदि राष्ट्रहित के कार्यों में व्यय किया जाये तो देश में बहुत सारे कल्याणकारी कार्य किए जा सकते हैं।

राजनीतिक दलों के अनेकानेक दोष होने के बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक सरकार के कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए दलों का होना अपरिहार्य है। दल व्यवस्था के अंतर्गत ही सरकार सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है।

राजनीतिक दलों का वर्गीकरण एवं दलीय व्यवस्था के प्रकार

विभिन्न विचारकों ने अनेक प्रकार से राजनीतिक दलों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है–

आमण्ड ने अपने ग्रंथ 'द पालिटिक्स ऑफ द डेवलपिंग एरियाज' में राजनीतिक दलों की चार प्रमुख श्रेणियां बताई हैं–

1. सत्तावादी (सर्वसत्तावादी की एक पृथक श्रेणी सहित)
2. प्रमुखतापूर्ण गैर सत्तावादी
3. प्रतिस्पर्द्धात्मक दो दल
4. प्रतिस्पर्द्धात्मक बहुदल

दलीय कार्यक्रम तथा उद्देश्य प्राप्ति के साधनों के आधार पर राजनीतिक दलों के निम्न प्रकार देखे जा सकते हैं–

1. उदारवादी दल
2. अनुदारवादी दल
3. उग्रवादी दल
4. प्रतिक्रियावादी दल
5. वामपंथी दल अथवा दक्षिणपंथी दल
6. राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय दल

1. **उदारवादी दल**– उदारवादी दल शांतिपूर्ण साधनों से परिवर्तन का समर्थन करता है।
2. **अनुदारवादी दल**– अनुदारवादी दल यथासंभव यथास्थिति को बनाये रखने का समर्थक माना जाता है।

टिप्पणी

3. **उग्रवादी दल**– उग्रवादी दल व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने का पक्षपाती होता है।

4. **प्रतिक्रियावादी दल**– प्रतिक्रियावादी दल की दृष्टि भूतकाल पर रहती है जिसके पुनरुत्थान की वह कामना करता है।

5. **वामपंथी दल अथवा दक्षिणपंथी दल**– जो दल समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने में आस्था रखते हैं उन्हें वामपंथी कहा जाता है किंतु जो धीमी और क्रमिक गति से आगे बढ़ने में विश्वास करते हैं, उन्हें दक्षिणपंथी संज्ञा दी जाती है।

6. **राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय दल**– दृष्टिकोण तथा संगठन के आधार को ध्यान में रखते हुए दल को राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय कहा जाता है।

दल प्रणाली के मुख्यतः तीन रूप प्रचलित हैं–

1. **एकदलीय प्रणाली**– एकदलीय प्रणाली ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को कहते हैं जिसमें शासन का सूत्र एक ही राजनीतिक दल के हाथों में रहे। इसके अनुसार संपूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है। अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतंत्रता नहीं होगी। एक दलीय शासन के कई रूप हैं–

   - सर्वाधिकारवादी एकदलीय प्रणाली के अंतर्गत केवल एक राजनीतिक दल को काम करने की अनुमति होती है। वही शासन की सारी नीतियां और कार्यक्रम निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए सोवियत रूस और वर्तमान जनवादी चीन में केवल वहां की कम्युनिस्ट पार्टी को काम करने की अनुमति रही है।
   - सोवियत रूस में लेनिन और स्टालिन और जनवादी चीन में माओत्से तुंग और अब शी जिनपिंग ने अधिनायक का सा व्यवहार किया भी। इस व्यवस्था के कुछ लक्षण अधिनायक तंत्र से इसे पृथक करते हैं– इस प्रणाली में लिखित अपनाया जाता है लेकिन संविधान की व्याख्या या बदलाव सत्तारूढ़ दल के हाथों में होता है। इसमें सत्ता का उत्तराधिकार कुछ नियमों के अनुसार होता है। सर्वाधिकारवादी प्रणाली की विशेषता यह है कि यह नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी तरह की गतिविधियों पर नियंत्रण रखती है।
   - दूसरी श्रेणी में स्पेन, फासिस्ट पुर्तगाल, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को लिया जा सकता है। ये पूर्णतया अधिनायवादी शासन थे। हिंसात्मक पद्धति के माध्यम से अन्य दलों को धीरे–धीरे समाप्त कर दिया जाता है तथा यहां दल एवं राज्य में कोई अंतर नहीं रह जाता।
   - तृतीय श्रेणी में हम म्यांमार और मिस्र जैसी सरकारों को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओं से ओतप्रोत रहे और जिनका सूत्रपात सैनिकों की ओर से हुआ है।
   - चतुर्थ श्रेणी में हम अनेक लैटिन अमेरिकन तथा अतीत में पाकिस्तानी सैनिक सरकार को रख सकते हैं। ये सरकारें किसी नेता को केंद्र बनाकर सैनिक शक्ति के आधार पर चलाई जाती हैं।

टिप्पणी

फिर कुछ ऐसे देश हैं जहां एक से अधिक राजनीतिक दलों की अनुमति तो है और अनेक दल विद्यमान भी हैं, परंतु राजनीतिक स्थिति ऐसी है कि एक ही दल का निरंतर प्रभुत्व बना रहता है। इस प्रणाली को एकदल–प्रधान प्रणाली कहा जाता है। उदाहरण भारत की राजनीति में राज्य के स्तर पर 1967 तक और केंद्र के स्तर पर 1977 तक मुख्यतः एक ही दल–इंडियन नेशनल कांग्रेस सत्तारूढ़ रहा। इसके अलावा मैक्सिको की दलीय प्रणाली भी एकदल–प्रधान प्रणाली की श्रेणी में आती है।

2. **द्विदलीय प्रणाली**– दो दलीय या द्विदलीय प्रणाली ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें दो राजनीतिक दलों की प्रधानता हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि वहां अन्य राजनीतिक नहीं होंगे परंतु उनका प्रभाव इतना क्षीण होगा और उनके निर्वाचित प्रतिनिधि इतने कम होंगे कि सत्ता दोनों प्रधान दलों में से एक ही के हाथों में रहेगी। ब्रिटिश दलीय प्रणाली इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। वहां कई दशकों से कभी 'लेबर पार्टी' और कभी कंजर्वेटिव पार्टी सत्तारूढ़ रही है। परंतु कुछ ही दशक पहले तक वहां लिबरल पार्टी की स्थिति भी काफी मजबूत थी। अमेरिका में भी दो दलों की प्रधानता है– 'डेमोक्रेटिक' और 'रिपब्लिकन' परंतु उनके सैद्धांतिक मतभेद उतने प्रखर नहीं हैं।

   एलेन वाल ने द्विदलीय प्रणाली को दो भागों में बांटा है–

1. अस्पष्ट द्विदलीय प्रणाली – जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, आयरलैंड।
2. सुस्पष्ट द्विदलीय प्रणाली – जैसे ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था की महत्वपूर्ण प्रकृति इसका राजनीतिक अनुशासन और सम्बद्धता है। संपूर्ण देश में मतदान का तरीका एक जैसा है और विविधतायें बहुत कम होती हैं। यहां मतदाता का दल के साथ तादात्मय यहां के मतदान व्यवहार का मुख्य निर्धारक है। यहां मतदाता व्यक्तिगत प्रत्याशियों की अपेक्षा दल और उसके नेता को वोट देता है। दलों में लगभग पूर्ण मतदानीय अनुशासन रहता है। राजनीतिक नेता दलीय संगठन और संसदीय समूह के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था के विरुद्ध अमेरिका में दल व्यवस्था के राजनीतिक आधार का अभाव है। अमेरिकी दल व्यवस्था में प्रायः अनुशासन का अभाव एवं राष्ट्रीय सम्बद्धता की अनुपस्थिति दिखाई देती है। राजनीतिक दल प्रायः विभिन्न गुटों के संविद रूप होते हैं। इन दोनों दलों के चुनाव कार्यक्रमों में विशेष अंतर नहीं होता।

अमेरिका एवं ब्रिटिश दलीय पद्धति की तुलना

अमेरिका एवं ब्रिटेन दोनों ही लोकतांत्रिक देश हैं। दोनों देशों की दलीय पद्धति में समानता के मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं–

1. दोनों देशों में दलीय व्यवस्था है। अन्य छोटे दलों का राष्ट्रीय राजनीति में कोई प्रभावी स्थान नहीं है। ब्रिटेन में श्रमिक दल और अनुदार दल की प्रधानता है तो अमेरिका में रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल प्रभावी हैं।
2. दोनों देशों में राजनीतिक दल कानूनी स्थिति प्राप्त न होते हुए दोनों देशों के शासन की आधारशिला है।

3. दोनों देशों में प्रमुख दलों का संगठन राष्ट्रीय स्तर है और संपूर्ण देश में उनका जाल फैला हुआ है।

टिप्पणी

असमानता

अमेरिका और ब्रिटिश दलीय में प्रमुख अंतर इस प्रकार हैं–

1. ब्रिटेन में श्रमिक दल और अनुदार दलों के सिद्धांतों और विचारधाराओं में स्पष्ट अंतर है। दूसरी ओर अमेरिका के दोनों प्रधान दलों की विचारधाराओं में कोई अंतर नहीं है। विदेश नीति, राष्ट्रीय नीति, आर्थिक नीति इत्यादि संबंध में दोनों ही राजनीतिक दल लंबे समय से समान दृष्टिकोण अपनाये हुए हैं।
2. ब्रिटिश दलों की तुलना में अमेरिकी राजनीतिक दलों का संगठन कमजोर है और उनमें स्थानीयता की भावना अधिक प्रबल है। अमेरिका में राजनीतिक दल अपना राष्ट्रीय रूप केवल राष्ट्रपति चुनाव के समय ही उजागर करते हैं अन्यथा उनका स्थानीय और राज्यीय रूप ही प्रबल रहता है। इसके विपरीत ब्रिटेन में हर समय श्रमिक एवं अनुदार दल देश भर में अपने दृष्टिकोण और सिद्धांतों के प्रचार–प्रसार में लगे रहते हैं।
3. ब्रिटिश राजनीतिक दल अमेरिकी दलों की तुलना में अधिक अनुशासित हैं। यही कारण है कि वहां दल–बदल की घटनाएं बहुत कम होती हैं और दलीय अनुशासन बहुत कम भंग किया जाता है। अमेरिकी कांग्रेस के सदस्य अपने दलीय नेता के आदेशों की विशेष परवाह नहीं करते।
4. ब्रिटेन में संसदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक दल सदैव सक्रिय रहते हैं जबकि अमेरिका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति के चुनाव के समय ही उनमें सक्रियता आती है। ब्रिटेन में मंत्रिमंडल का कभी भी पतन हो सकता है जबकि अमेरिका में राष्ट्रपति और कांग्रेस का कार्यकाल निश्चित है।
5. ब्रिटेन की तुलना में अमेरिका के राजनीतिक दलों में दबाव समूह अधिक सक्रिय और प्रभावशाली हैं।
6. अमेरिका जैसी लूट व्यवस्था ब्रिटिश राजनीतिक दलों में नहीं पाई जाती। ब्रिटेन में मंत्रिमंडल में परिवर्तन होने पर प्रशासनिक अधिकारियों की स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता जबकि अमेरिका में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के बदलते ही उच्च प्रशासनिक अधिकारी बदल जाते हैं।

3. बहुदलीय प्रणाली– जहां दो से अधिक दल राजनीतिक में सक्रिय होते हैं वहां बहुदलीय प्रणाली होती है। बहुदलीय व्यवस्था में अनेक राजनीतिक दल सत्ता संघर्ष में लगे रहते हैं। वे हरसंभव प्रतियोगिता के आधार पर शासन अपने हाथ में लेने की चेष्टा करते हैं।

यूरोप में ब्रिटेन को छोड़कर मुख्यतः बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है। फ्रांस, इटली, जर्मनी, स्विट्जरलैंड में बहुदलीय व्यवस्था का प्रचलन है। भारत में दर्जनों दल हैं। ऐसे खंडों में, जहां इतने अधिक दल हों एवं दो–तीन दलों की संख्या समकक्ष हो जाये तो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका पर अधिकार जमाने के लिए दो से अधिक दलों द्वारा संयुक्त मोर्चा बनाया जाता है। ऐसी दशा में प्रत्येक दल सरकार को छोड़ने

की धमकी दे सकता है, जिससे सरकार के पतन का भय रहता है। बहुदलीय प्रणाली में गुटबन्दी होती है।

बहुदलीय प्रणाली की विशेषताएं

बहुदलीय प्रणाली की विशेषताएं निम्न हैं–

1. बहुदलीय प्रणाली में अस्थायित्व की प्रवृत्ति पाई जाती है। अनेक राज्यों में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने के कारण अनेक दलों के सम्मिलन से संयुक्त या गठबंधन सरकारें सत्तारूढ़ हो रही हैं।
2. इस व्यवस्था में विचारधारा का स्थान गौण होता है। राजनीतिक दलों के पास अपना कोई निश्चित विचारदर्शन नहीं होता। दलों के उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों में अस्पष्टता होती है।
3. इस व्यवस्था में छोटे दल सांप्रदायिकता, प्रादेशिकता और व्यक्तितंत्र पर आधारित होते हैं। चुनावों में विजयी होकर सत्तारूढ़ होने में तो ये सक्षम नहीं होते किंतु अपने कुछ प्रत्याशियों को व्यवस्थापिका में भेजकर, जोड़–तोड़ की नीति से सरकार पर अपने हितों के अनुकूल दबाव डालने की चेष्टा करते हैं।
4. बहुदलीय व्यवस्था में अनुशासनहीनता अधिक पाई जाती हैं। दल–बदल की घटनायें आम बात हैं, स्वार्थपूर्ण गठबंधन किये जाते हैं और व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए दलीय–सचेतक की भी अनेक बार परवाह नहीं की जाती।
5. भारत जैसे राष्ट्रों में बहुदलीय व्यवस्था के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। अनेक दल केवल चुनाव के समय ही जन्म लेते हैं और चुनावों के बाद उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। दो चार दल ही अखिल राष्ट्रीय स्तर के होते हैं, शेष क्षेत्रीय दल पाये जाते हैं।
6. बहुदलीय व्यवस्था में दलों में असंतुष्ट गुटों का निर्माण समय–समय पर होता रहता है जिससे दलीय हितों को आघात पहुंचता है।
7. बहुदलीय प्रणाली में 'निर्दलीय सदस्यों' का देश की राजनीति में महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

बहुदलीय व्यवस्था के गुण

इस पद्धति में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं–

1. इस पद्धति के अंतर्गत विभिन्न मतों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। बहुदलीय व्यवस्था में किसी एक दल को निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने की सुविधा नहीं मिल पाती।
2. इस पद्धति से समझौते की प्रवृत्ति बढ़ती है क्योंकि यह सभी वर्गों तथा विचारधाराओं के लोगों का प्रतिनिधित्व करती है।
3. बहुदलीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका का सम्मान कम नहीं होता और न ही मंत्रिमंडल की तानाशाही का भय रहता है।
4. बहुदलीय व्यवस्था में मतदाताओं को चयन के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। मतदाता अपनी इच्छानुकूल किसी का चयन कर सकते हैं।

5. इस व्यवस्था में कई दलों की मिली–जुली सरकार बनती है। अतः देश के योग्य व प्रभावशाली व्यक्तियों को प्रशासन कार्यों में भाग लेने का अधिकाधिक अवसर मिलता है।

टिप्पणी

बहुदलीय व्यवस्था के दोष

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं–

1. **शासन में अस्थिरता**– बहुदलीय व्यवस्था में कई दलों की मिली–जुली सरकारों का निर्माण होता है। कई दलों की मिली–जुली सरकारें 'भानुमति के कुनबे' के समान होती हैं। अतः उनके विचारों में समन्वय स्थापित करना कठिन होता है।
2. **उत्तरदायित्व का अभाव**– मिली–जुली सरकारों में उत्तरदायित्व को निश्चित करना कठिन होता है। प्रशासन की सफलता का श्रेय तो प्रत्येक दल हासिल करना चाहता है किंतु असफलता दूसरों के ऊपर डालने लगता है।
3. **मतदाताओं की अनिश्चितता**– बहुदलीय प्रणाली में मतदाता यह निश्चित नहीं कर पाते कि वे किस दल को मत दें क्योंकि यह तय नहीं होता है कि कौन सा दल सरकार बनायेगा।
4. **संकट के समय शीघ्र निर्णय लेने में असमर्थ**– बहुदलीय प्रणाली में देश आंतरिक और बाह्य संकट के समय त्वरित ठोस, उपर्युक्त निर्णय नहीं ले पाता। शासन में सम्मिलित विभिन्न दलों के पारस्परिक मतभेद शीघ्र निर्णय प्रक्रिया को अवरुद्ध करते हैं।
5. **अनुशासनहीनता**– बहुदलीय व्यवस्था से देश में अनुशासनहीनता फैलती है। विभिन्न दलों के सदस्यों में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्यता आदि पलते हैं जिससे एक तरफ तो नैतिकता का ह्रास होता है और दूसरी तरफ राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा।
6. **राजनीतिक अवसरवादिता**– राजनीतिक अवसरवादिता और सिद्धांतहीनता से जनमानस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।
7. **नेतृत्व का संकट**– बहुदलीय व्यवस्था में 'नेतृत्व का संकट' बना रहता है क्योंकि नेतृत्व हमेशा अस्थायित्व के भय से ग्रसित रहता है।

बहुदलीय पद्धति में प्रायः मतदाता व्यक्ति विशेष या समूह को मत देते हैं, दल को नहीं। अतः अल्पमत वाले व्यक्ति अधिक संख्या में निर्वाचित हो जाते हैं। अतः तीनों प्रणालियों में द्विदलीय प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है। एक दलीय व्यवस्था वास्तव में अधिनायकवादी व्यवस्था का ही दूसरा नाम है।

दलीय प्रणाली के सिद्धांत

राजनीतिक दलों के अस्तित्व में आने के कारण, शक्तियों को संगठित करने का तरीका, उद्देश्यों की पूति के साधन, उनके कार्य करने की पद्धति इत्यादि समस्याओं की व्याख्या के लिए दलीय प्रणाली के अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। इस संदर्भ में निम्न

टिप्पणी

सिद्धांतकारों के दृष्टिकोण प्रमुख हैं–(क) लेनिन, (ख) रॉबर्ट मिशेल्स, (ग) मौरिस दूवर्जर, (घ) ज्योवानी सार्टोरी

लेनिन के विचार– मार्क्सवादी विचारक वी.आई. लेनिन ने लिखा है कि पूंजीवादी समाज में परस्पर प्रतिस्पर्धा करने वाले दल इसलिए पनपते हैं क्योंकि वे परस्पर विरोधी वर्गों के परस्पर विरोधी हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजवादी समाज में ऐसी प्रतिस्पर्धा की कोई गुंजाइश नहीं है परंतु वहां सर्वहारा का दल सर्वथा आवश्यक है ताकि वह पूंजीवाद विरोधी संघर्ष में अग्रपंक्ति की भूमिका संभाल सके। लेनिन ने 'मजदूर संघ चेतना' और सामाजिक लोकतंत्रीय चेतना में अंतर करते हुए लिखा है कि कामगारों को मजदूर संघ चेतना तो सहज स्वाभाविक ढंग से प्राप्त हो जायेगी परंतु उनके मन में सामाजिक लोकतंत्रीय चेतना विकसित करने का काम राजनीतिक दल का है। अतः साम्यवादी दल की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। पूंजीपतियों के शोषण से कामगार वर्ग को बचाने के लिए भी क्रांतिकारी दल का गठन आवश्यक हो जाता है। 1905 में लेनिन दलीय संगठन के सिद्धांत का निरूपण किया तथा लोकतंत्रीय केंद्रवाद शब्द का प्रयोग किया। इसका अभिप्राय यह था कि दल का नेतृत्व कौन करेगा इसका निर्णय चुनाव के द्वारा किया जायेगा। फिर यह नेतृत्व मजदूर वर्ग के प्रति उत्तरदायी होगा; और उपयुक्त सिद्ध न होने पर उसे पद से हटाया जा सकेगा। लेनिन के अनुसार साम्यवादी दल जनसमुदाय को अपना सदस्य बनाकर, उनमें अपनी विचारधारा का प्रचार करके उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित करेगा।

रॉबर्ट मिशेल्स के विचार– जर्मन समाजवैज्ञानिक रॉबर्ट मिशेल्स ने अपनी रचना 'पॉलिटिकल पार्टीज' के अंतर्गत यह विचार व्यक्त किया है कि राजनीतिक दल का चरित्र अपने समय की ऐतिहासिक अवस्था से निर्धारित होता है। मिशेल्स ने अपना ध्यान मुख्यतः लोकतंत्र में प्रचलित दलों पर किया है। मिशेल्स के अनुसार, जिस राजनीतिक दल का नेतृत्व गिने–चुने लोगों के हाथों में रहता है, निर्णय लेने की शक्ति इन्हीं लोगों के हाथों में केंद्रित रहती है, उसमें यह खतरा बना रहता है कि जनसामान्य में लोकतंत्र की लहर पैदा होगी तब वह उस गुटतंत्र को बहा ले जायेगी। इसी कारण आज प्रजातंत्रीय युग में कोई भी राजनीतिक दल अपने संगठन को विस्तृत से विस्तृत आधार पर खड़ा करने की कोशिश करता है। इससे दल का आकार बहुत बड़ा और जटिल हो जाता है। अतः उसके संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिए सुदृढ़ अधिकारी तंत्र की जरूरत होती है।

मिशेल्स ने गुटतंत्र के लौह–नियम का निरूपण करते हुए यह कहा है कि किसी भी राजनीतिक दल के सारे निर्णय करने की शक्ति अंततः एक गुटतंत्र के हाथों में आ जाती है। परंतु आधुनिक राजनीतिक दल अपने गुटतंत्रीय चरित्र को छिपाकर अपने आपको लोकतंत्रीय आवरण में प्रस्तुत करते हैं।

लोकतंत्रीय दल का नेतृत्व शुरू–शुरू में तो जनभावना से प्रेरित होता है, परंतु धीरे–धीरे उसमें ऐसी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है जो उसे जनसमूह की भावना से दूर ले जाती है। जब नेता अपने कार्य में इतने निपुण हो जाते हैं, वे दल के लिए इतने जरूरी बन जाते हैं कि उनके बगैर काम ही न चल सकता। संगठन को चलाने के लिए श्रम का विभाजन, विशेषज्ञता और मार्गदर्शन अनिवार्य है। ये सब विशेषतायें सार्वजनिक

शक्ति को जनसाधारण से हटाकर अधिकारी तंत्र के व्यक्तित्व में केंद्रित कर देती हैं। अतः प्रत्येक संगठन के अंतर्गत गुटतंत्र का उदय इतना अनिवार्य है कि इसे एक लौह नियम की संज्ञा दी जा सकती है। संक्षेप में गुटतंत्रीय प्रवृत्ति ही राजनीतिक दलों का आधार है।

टिप्पणी

मौरिस दूवर्जर के विचार– राजनीतिक दलों के संबंध में मौरिस दूवर्जर के विचार इस प्रकार हैं–

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति– फ्रांसीसी विचारक मौरिस दूवर्जर ने अपनी चर्चित कृति 'पालिटिकल पार्टीज' (1955) के अंतर्गत लिखा है कि राजनीतिक दलों की उत्पत्ति को समझना बहुत कठिन नहीं है। प्रारंभ में व्यवस्थापिका के अंदर कुछ मुद्दों के बारे में सहमति के आधार पर कुछ समूह उभरकर सामने आते हैं, इसके बाद निर्वाचन समितियां बनती हैं। परिणामस्वरूप इन दोनों तत्वों में स्थायी संबंध स्थापित हो जाता है जिससे राजनीतिक दल अस्तित्व में आते हैं। अधिकांशतः संसदीय समूह का उद्‌भव किसी राजनीतिक सिद्धांत या विचारधारा के संदर्भ में होता है। परंतु कभी–कभी व्यवसायिक हितों की समानता, भौगोलिक निकटता, परस्पर लाभ, लेन–देन का विचार भी कुछ लोगों को एक–दूसरे के निकट ला देता है।

दूवर्जर ने यह माना है कि राजनीतिक दलों का उदय संसद के बाहर एवं भीतर दोनों तरह से होता है। सामान्यतः जो संसद के बाहर जन्म लेते हैं, उनमें केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा होती है और उनका अनुशासन भी कठोर होता है। संसद के भीतर जन्म लेने वाले दल अपने लक्ष्यों की पूर्ति में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं क्योंकि सत्ता के स्रोत तक उनकी सीधी पहुंच होती है।

दूवर्जर के अनुसार दलों का वर्गीकरण– दलीय संरचना का विश्लेषण करते हुए दूवर्जर ने चार प्रकार के राजनीतिक दलों की पहचान की है।

(क) **गुट बैठक (Caucus) या (Comittee)** – इस श्रेणी में आने वाले दल की विशेषता यह है कि इसमें थोड़े सदस्य होते हैं। विशाल जनसंख्या को अपना सदस्य बनाने में इसे कोई दिलचस्पी नहीं होती। यह सदस्यों की गुणवत्ता पर बल देता है। उनकी संख्या पर नहीं यह मुख्यतः चुनाव गतिविधियों पर अपना ध्यान केंद्रित करता है। जब चुनाव नहीं होते, यह सुप्त अवस्था में रहता है। इसके सदस्य या तो स्थानीय गणमान्य व्यक्ति होते हैं या स्थानीय संगठनों के प्रतिनिधि जो दल बनाने के उद्देश्य से एकजुट हो जाते हैं। मताधिकार के विस्तार के साथ ऐसे दलों का ह्रास शुरू हो जाता है। 1918 से पहले की ब्रिटिश लेबर पार्टी गुट बैठक रूपी दलों के प्रमुख उदाहरण हैं।

(ख) **शाखा दल (Branch Party)**– इसका उदय पश्चिमी यूरोप में मताधिकार के विस्तार का परिणाम है। इसमें गुट बैठक की तरह थोड़े सदस्य नहीं होते बल्कि यह ज्यादा से ज्यादा सदस्य बनाने में विश्वास रखता है। इसमें केंद्रीय ढांचा तो रखा जाता है परंतु उसकी बुनियादी इकाइयां निर्वाचन–क्षेत्रों की व्यवस्था के अनुरूप भौगोलिक आधार पर बंटी रहती हैं। यह केवल चुनाव के समय सक्रिय नहीं होता बल्कि इनकी राजनीतिक गतिविधियां निरंतर चलती रहती हैं। यूरोप में कामगार वर्ग को मताधिकार मिल जाने के बाद वहां के समाजवादी दलों ने इस ढांचे का आविष्कार किया था।

(ग) **कोशिका–दल (Cell Party)**– यह मुख्यतः क्रांतिकारी समाजवादी दलों की देन है। शाखा दल की तुलना में कोशिका छोटी होती है परंतु शाखा की तरह वह लगातार राजनीतिक गतिविधि के लिए तैयार होती है। इनका संगठनात्मक ढांचा शाखा दल की तरह भौगोलिक क्षेत्रों पर आधारित नहीं होता बल्कि कार्यस्थल के साथ जुड़ा रहता है। मूलतः कोशिका का आविष्कार गुपचुप काम करने के लिए किया गया। इन दलों की बहुत ज्यादा दिलचस्पी चुनाव जीतने में नहीं होती। इसकी प्रत्येक इकाई ऊपर से नीचे तक केंद्रीय ढांचे के साथ जुड़ी रहती है। परंतु एक ही धरातल पर इसकी भिन्न–भिन्न इकाइयों में परस्पर संपर्क को बढ़ावा नहीं दिया जाता। इस प्रबंध का उद्देश्य यह है कि यदि कहीं दुश्मन किसी एक इकाई में घुसपैठ कर जाये तो इससे दल का संपूर्ण ढांचा छिन्न–भिन्न न हो जाये।

(घ) **नागरिक सेना (Militia)**– इस पद्धति में ढांचा सेना के पदानुक्रम या श्रेणीतन्त्रीय ऐसी व्यवस्था है जिसमें सारी सत्ता ऊंचे या निचले स्तरों या श्रेणियों के रूप में क्रमबद्ध होती है। कोशिका दल की तरह नागरिक सेना का ढांचा भी क्रांतिकारी दलों के लिए विशेष उपयुक्त रहा है। हिटलर के 'स्टार्म ट्रूपर्स' और मुसोलिनी की 'फासिस्ट मिलीशिया' इसके प्रमुख उदाहरण हैं। दूवर्जर ने यह लिखा है कि कोई राजनीतिक दल केवल नागरिक सेना के आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता।

ज्योवानी सार्टोरी के विचार– इटली के विचारक ज्योवानी सार्टोरी ने अपनी कृति 'पार्टीज एंड पार्टी सिस्टम्स : ए फ्रेमवर्क फॉर एनालिसिस' के अंतर्गत बहुदलीय प्रणालियों के विश्लेषण का एक ढांचा प्रस्तुत किया है। सार्टोरी ने दो तरह की बहुदलीय प्रणालियों में अंतर किया है–

1. संयत बहुलवादी प्रणालियां
2. ध्रुवीकृत बहुलवादी प्रणालियां

सार्टोरी ने ध्रुवीकृत बहुलवादी प्रणाली के चार लक्षण बताये हैं जो उसे अन्य बहुदलीय प्रणालियों से अलग करते हैं–

1. इसमें आमतौर पर पांच से अधिक विचारणीय दल पाये जाते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह चुनाव जीतने में असमर्थ हों बल्कि इसका अर्थ है कि प्रचलित व्यवस्था के अंतर्गत उसका अपना महत्व हो।
2. ध्रुवीकृत बहुलवादी प्रणाली के अंतर्गत 'विचारणीय दलों' के बीच बहुत ज्यादा विचारधारात्मक दूरी पाई जाती है। राजनीतिक मतभेद बहुत ज्यादा होते हैं।
3. यह प्रणाली बहुध्रुवीय होती है। इसमें दो से अधिक ध्रुव पाये जाते हैं। ध्रुव का अभिप्राय ऐसे गुणों, विचारों, मान्यताओं, नीतियों और कार्यक्रमों के समुच्चय से है जो अपने जैसे अन्य समुच्चयों के विरुद्ध हो। इस तरह वहां केंद्रीय विचारधारा से परे अनेक परस्पर विरोधी विचारधारायें पाई जाती हैं।
4. इस प्रणाली में उग्र बहुलवाद के कारण भिन्न–भिन्न विचार रखने वाले समूह केंद्रीय विचारधारा से दूर हटने की कोशिश करते हैं। ध्रुवीकृत बहुलवादी प्रणाली के अंतर्गत सारी राजनीति एक केंद्रीय दल के चारों ओर घूमती रहती है। विपक्ष की रचनात्मक, उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका की कम गुंजाइश रहती है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. यदि किसी देश में दो से अधिक राजनीतिक दल प्रभावशाली हैं, तो उसे कहा जाता है–

   (क) एकदलीय प्रणाली (ख) बहुदलीय प्रणाली

   (ग) द्विदलीय प्रणाली (घ) निर्दलीय प्रणाली

6. ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में दलीय प्रणाली के प्रमुखतया रूप प्रचलित है–

   (क) एकदलीय (ख) द्विदलीय

   (ग) बहुदलीय (घ) सर्वाधिकारवादी

7. 'पॉलिटिकल पार्टीज' किस विद्वान की रचना है–

   (क) रॉबर्ट मिशेल्स (ख) लेनिन

   (ग) मैकाइवर (घ) ज्योवानी सार्टोरी

8. दल संरचना के संदर्भ में मौरिस दूवर्जर ने निम्न में से किसका समर्थन किया है–

   (क) गुट बैठक (ख) शाखा दल

   (ग) कोशिका दल (घ) उपरोक्त सभी

2.4 दबाव समूह

दबाव समूहों को विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है– प्रभावक गुट, हित समूह, गैर–सरकारी संगठन, लाबीज, अनौपचारिक संगठन इत्यादि। दबाव समूहों तथा अन्य संगठनों में अंतर होता है। सभी संगठन दबाव समूह नहीं होते और न ही हित समूह और दबाव समूह समान होते हैं। प्रत्येक देश में बहुत सारे हित समूह होते हैं, किंतु जब वे सत्ता को प्रभावित करने के उद्देश्य से राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हो जाते हैं तो 'दबाव समूह' बन जाते हैं।

अर्थ एवं परिभाषा

व्यक्तियों के ऐसे समूह को दबाव समूह कहा जाता है जो सरकार के निर्णयों को अपने विशिष्ट हितों की रक्षा करने हेतु प्रभावित करने का प्रयास करता है। किंतु नीतियों के प्रभावक के रूप में यह अपने सदस्यों को औपचारिक सरकारी पदों पर स्थापित करने का प्रयास नहीं करता। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

एलेन बाल के अनुसार– सरकार की नीति को प्रभावित करने वाले प्रभावक गुट दबाव समूह कहलाते हैं।

ओडिगार्ड के अनुसार– दबाव समूह ऐसे लोगों के औपचारिक संगठन हैं जो सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिए प्रभावित करने का प्रयास करते हैं कि अपने हितों की रक्षा एवं संवर्धन कर सके।

टिप्पणी

राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हित समूह जब सार्वजनिक नीतियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित करते हैं तो वे दबाव समूह कहलाते हैं। कृषि, उद्योग, श्रम उत्पादन, व्यवसाय तथा उपभोक्ता इत्यादि ऐसे आधार हैं जिनके संदर्भ में दबाव समूह गठित होते हैं। फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर एंड कॉमर्स, फोरम ऑफ फ्री एन्टरप्राइज, गौ–हत्या विरोधी लाबी, किसान संगठन, चीनी सीमेंट अथवा कपड़ा उत्पादकों के संगठन इत्यादि दबाव समूहों के कुछ उदाहरण भारतीय संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

विशेषताएं

दबाव समूहों की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं–

1. **विशिष्ट हितों से संबंध**– इनका संबंध विशिष्ट मामलों से होता है। उदाहरणार्थ गन्ना उत्पादक किसान जब अपने उत्पादन के हितों की रक्षा के लिए 'गन्ना उत्पादक संघ' का गठन करते हैं तब उसका आधार अपने विशिष्ट हितों की रक्षा करना है।
2. **गैर राजनीतिक संगठन**– दबाव समूह गैर–राजनीतिक संगठन होते हैं। गैर–राजनीतिक होने के कारण इन्हें राजनीतिक दलों से अलग माना जाता है। निजी हित अथवा व्यवसायिक हित इनका लक्ष्य होता है।
3. **अज्ञात साम्राज्य**– प्रो. एस ई. फाइनर ने दबाव गुटों को अज्ञात साम्राज्य कहा है।
4. **सरकार पर आधिपत्य की अनिच्छा**– राजनीतिक दलों की भांति इनका उद्देश्य सत्ता प्राप्ति नहीं होता और वे शासन के ढांचे से पृथक रहकर ही कार्य करते हैं।
5. **ऐच्छिक सदस्यता**– दबाव समूह विशेष हितों की सिद्धि के लिए संगठित किये जाते हैं। इनकी सदस्यता वही व्यक्ति प्राप्त करते हैं जिनके हितों की पूर्ति इनके द्वारा होने की संभावना होती है। इनकी सदस्यता इस रूप में ऐच्छिक होती है कि किसी व्यक्ति को इनका सदस्य बनने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।
6. **अनिश्चित कार्यकाल**– दबाव समूह किसी हित विशेष की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आने के कारण हित की पूर्ति के साथ ही इनका लुप्त हो जाना स्वाभाविक है। परंतु सभी दबाव समूह अनिश्चित कार्यकाल वाले नहीं कहे जा सकते। कुछ पेशेवर स्थायी संगठन दबाव समूह के रूप में विद्यमान रहते हैं।

दबाव समूहों का महत्व

दबाव समूहों की उपयोगिता तथा महत्व के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं–

1. **लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति**– दबाव समूहों को लोकतांत्रिक भावना की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए

टिप्पणी

लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। लोकमत को विकसित एवं शिक्षित करके, आंकड़े इकट्ठे करके, विधि–निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएं पहुंचाकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करना आज लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है। दबाव समूह अपने शोध के साधनों से संगृहीत तथ्यों को जुटाकर सरकार की नीतियों का समर्थन अथवा उनका विकल्प प्रस्तुत करता है।

2. **शासन के लिए सूचनायें एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में**– शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पास पर्याप्त सूचनायें हों। शासन की सूचनाओं के गैर–सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आंकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।
3. **शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव समूह**– वर्तमान में दबाव अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है कि वह हित विशेष की रक्षा के लिए शासकीय मशीनरी पर प्रभावी व सफल दबाव डाल सकें।
4. **सरकार की निरंकुशता को सीमित करना**– प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था में केंद्रीयकरण की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण समूची शक्तियां सरकार के हाथों में केंद्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को सीमित करते हैं।
5. **समाज और शासन में संतुलन स्थापित करना**– राज्य में दबाव समूहों की उपस्थिति का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच संतुलन–सा बना रहता है। व्यापारी, श्रमिक, किसान, कर्मचारी इत्यादि समुदाय सभी अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। सभी समुदाय एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता भी करते हैं। इससे समाज और शासन में अनूठा संतुलन स्थापित हो जाता है।
6. **व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन**– ये समूह नागरिक और सरकार के मध्य संचार साधन का कार्य करते हैं। राडी के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा–आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं, अतः इन्हें गैर–सरकारी संचार–सूत्र कहा जा सकता है।"
7. **विधानमंडल का तृतीय सदन**– दबाव समूह विधि निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशिष्टता तथा ज्ञान के कारण ये गुट विधि–निर्मात्री समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इस कारण इन्हें विधानमंडल के पीछे विधानमंडल की संज्ञा दी जाती है।

   अतः उपरोक्त महत्व के कारण सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों में अंतर

दबाव समूहों और राजनीतिक दलों में निम्नलिखित अंतर किया जा सकता है–

1. **राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं, दबाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़ा नहीं करते**– राजनीतिक दल मुख्यतः शासन के संचालन और

टिप्पणी

नियंत्रण के उद्देश्य से प्रेरित होता है और इसलिए चुनाव लड़कर विजय की आकांक्षा रखता है। इसके विपरीत दबाव समूह केवल अपने सामान्य हितों से संबंधित सार्वजनिक नीति को अपने अनुरूप करवाने में ही रुचि रखता है।

2. **राजनीतिक दल का विस्तृत संगठन होता है जबकि दबाव समूह छोटे होते हैं**– राजनीतिक दल सामान्यतः दबाव समूहों की तुलना में बड़ा संगठन होता है जो लाखों मतदाताओं के सक्रिय समर्थन की प्राप्ति का उद्देश्य रखता है। दबाव समूह व्यक्तियों का एक छोटा संगठन होता है और वे ही व्यक्ति इससे जुड़े होते हैं जिनके हित परस्पर जुड़े होते हैं।
3. **राजनीतिक दल के उद्देश्य विस्तृत होते हैं जबकि दबाव समूह के उद्देश्य संकुचित होते हैं**– राजनीतिक दलों में सभी हितों के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, अतः इनका ध्येय विस्तृत हो जाता है। दबाव समूह में एक विशिष्ट हित से संबंधित व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं। अतः इनका ध्येय सीमित और संकुचित होता है।
4. **राजनीतिक दल विधानमंडल में कार्य करते हैं, जबकि दबाव समूह विधानमंडल के बाहर कार्य करते हैं**– राजनीतिक दलों का कार्य क्षेत्र विधानमंडल होता है। यदि बहुमत वाला दल है तो सरकार बनाता है और अल्पमत में है तो सरकार की नीतियों का विरोध करने के साथ–साथ विकल्प प्रस्तुत करता है। दूसरी तरफ, दबाव समूह का कार्यक्षेत्र विधानमंडल के बाहर होता है। प्रत्येक व्यवस्थापिका भवन के साथ लगे हुए कमरे या बरामदे को 'लाबी' कहा जाता है, जिसमें विधानमंडल के सदस्य अवकाश के समय बैठते हैं। इस समय दबाव समूहों के प्रतिनिधि उनसे मिलने आते हैं।
5. **साधनों संबंधी अंतर**– राजनीतिक दलों से यह आशा की जाती है कि वे संवैधानिक साधनों को ही अपनायेंगे जबकि दबाव समूह द्वारा संवैधानिक और गैर–संवैधानिक सभी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं।
6. **सदस्यता संबंधी अंतर**– कोई भी व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है जितने उसके हित होते हैं।

दबाव समूह एवं हित समूह

दबाव समूह और हित समूह में सूक्ष्म अंतर है। अर्ल लेथम के शब्दों में, "सभी हित समूह दबाव समूह नहीं होते, किंतु समय आने पर सभी हित समूह दबाव गुट का रूप धारण कर लेते हैं।" छात्रों के समूह, डॉक्टरों के समूह, व्यापार संघ आदि हित समूह हैं क्योंकि वे किन्हीं हितों का प्रतिनिधित्व करना प्रारंभ कर देते हैं तथा राजनीतिक दृष्टि से अपने अभीष्ट हितों की पूर्ति के लिए सक्रिय हो जाते हैं तो 'प्रभावक गुट' अथवा दबाव समूह की श्रेणी में आते हैं। जब हित समूहों के संकट में होते हैं अथवा जब इन्हें कुछ अपने स्वार्थों की पूर्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं।

टिप्पणी

दबाव समूहों के कार्य साधन

दबाव समूहों द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार हैं–

1. **प्रचार व प्रसार के साधन**– अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्णय करने के लिए तथा विधायकों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न दबाव समूह समाचार पत्र, रेडियो तथा टेलीविजन का प्रयोग करते हैं।
2. **आंकड़े प्रकाशित करना**– नीति निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न दबाव समूह, प्रेस, आंकड़े प्रकाशित करते हैं ताकि अपनी मांग पूरी करवा सकें।
3. **गोष्ठियां आयोजित करना**– वर्तमान में दबाव समूह विचार–विमर्श तथा वाद तथा भाषण मालायें आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियों में विधानमंडल के सदस्यों तथा प्रशासन के प्रमुख अधिकारियों को आमंत्रित करते हैं और उन्हें दृष्टिकोणों से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।
4. **संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना**– दबाव समूह अपने एजेंटों के माध्यम से संसद के सभा कक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यवसायिक संगठन संसद सदस्यों को प्रभावित करने के लिए विधायकों को प्रभावित करते हैं। उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं।
5. **लॉबीइंग**– लॉबीइंग से अभिप्राय है 'सरकार को प्रभावित करना'। यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दबाव समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते हैं। ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं– सूचनायें प्रसारित करते हैं, नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हैं।
6. **संसद सदस्यों के मनोरंजन में रुचि**– दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों। चुनावों में प्रत्याशियों को पैसा चाहिए और पैसा दबाव समूह उपलब्ध कराते हैं और बदले में उन्हें दबाव समूहों की मांग का समर्थन करना पड़ता है।

प्रदर्शन

कभी–कभी दबाव गुट उग्र आंदोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। हड़ताल, जुलूस, रैली इत्यादि साधनों का आमतौर से दबाव समूह प्रयोग करने लगे हैं।

एच.ए. बोन ने अपने ग्रंथ 'अमेरिकन पॉलिटिक्स एंड द पार्टी सिस्टम' में दबाव समूहों के कार्य करने की तकनीकों को इस प्रकार बताया है–

1. सरकार की आधारभूत शाखाओं पर दबाव डालना।
2. विधायकों तथा प्रशासकों से मिलना।
3. व्यवस्थापिका की समितियों का प्रयोग करना।

टिप्पणी

4. अन्य दबाव समूहों के साथ गठबंधन एवं पारस्परिक सहयोग करना।
5. मित्रों तथा विरोधियों के चुनाव को प्रभावित करना।
6. आवश्यकता पड़ने पर न्यायालयों के हस्तक्षेप का सहारा लेना।

दबाव समूहों का वर्गीकरण

जी.ए. आल्मण्ड तथा जी.वी. पावेल ने अपनी पुस्तक 'कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स' में दबाव समूहों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

1. **संस्थात्मक दबाव समूह**– संस्थात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधानमंडलों, नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक संगठन होते हैं। ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील होते हैं। ये अपने हितों के साथ कई बार समाज में अपने हितों के अनुरूप हित रखने वाले वर्गों के हितों का भी पूरा ध्यान रखते हैं। यह आंतरिक समूह है जो शासनतंत्र के अंदर ही विशेष हितों की रक्षा या पूर्ति के लिए क्रियाशील रहते हैं।
2. **समुदायात्मक दबाव समूह**– ये हित समूह विशेष व्यक्तियों के हितों के रूप में संगठित होते हैं। श्रमिक संघ, व्यापारिक संघ, विद्यार्थी संघ, शिक्षक संघ तथा कृषक संघ ऐसे ही दबाव समूहों की श्रेणी में आते हैं। ये समूह सामान्यतया स्थायी होते हैं और इनको औपचारिक रूप से मान्यता प्राप्त होती है। अपने सदस्यों के हितों की वृद्धि के लिए ये विधिसम्मत प्रक्रिया का ही उपयोग करते हैं।
3. **गैर–समुदायात्मक दबाव समूह**– ये दबाव समूह वर्ग, रक्त संबंध, धर्म अथवा मेल–मिलाप या संचार के किसी अन्य परंपरागत धरातल पर आधारित होते हैं। इस प्रकार पैतृक समूह, जाति समूह, धार्मिक समूह, वंश समूह, वर्ग समूह प्रस्थिति समूह, रक्त संबंधी समूह इत्यादि को गैर–समुदायात्मक समूहों की श्रेणी में रखा जाता है। इन समूहों की प्रमुख विशेषता यह है कि ऐसे हित समूह हित साधन का काम निरंतर नहीं करके समय–समय पर स्थिति विशेष का ध्यान रखते हुए ही करते हैं। इन समूहों में न तो स्पष्टीकरण की कोई व्यवस्थित प्रक्रिया होती है, न उनकी प्रकृति और साधन ही निश्चित होते हैं।
4. **प्रदर्शनात्मक हित समूह**– प्रदर्शनकारी गुट वे हैं जो अपनी मांगों को लेकर अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैये अपना लेते हैं। प्रदर्शनात्मक विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही के कई प्रकार हैं, जैसे– जनसभायें, रैली, अनशन, घेराव, हड़ताल, जुलूसों का प्रयोग इत्यादि। इन समूहों की कार्य प्रणाली नियोजित ढंग की नहीं होती तथा इनका रूप प्रायः अस्त–व्यस्तता का ही होता है। नियोजित व अनियोजित दोनों ही प्रकार से ये समूह अपने हितों के प्रकाशन एवं उनकी साधना का प्रयास करते हैं।

टिप्पणी

जीन ब्लोण्डेल के अनुसार दबाव समूहों का वर्गीकरण

जीन ब्लोण्डेल ने दबाव समूहों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

1. सामुदायिक
   (क) प्रथागत
   (ख) संस्थात्मक
2. संसर्गात्मक या संघात्मक
   (क) संरक्षणात्मक
   (ख) उत्थानात्मक

1. सामुदायिक समूह– इन समूहों का निर्माण सामाजिक संबंधों के कारण होता है। साथ–साथ रहने से सामाजिक संबंध, सामान्य दृष्टिकोण और एक दूसरे के प्रति लगाव उत्पन्न होता है। सामुदायिक एकता के कारण धीरे–धीरे लोग स्वयं ही ऐसे समूहों के बंधनों में बंध जाते हैं जिनके सदस्य एक दूसरे के सुख–दुख में हाथ बंटाते हैं। इन समूहों में परिवार, जाति, वर्ग, धर्म आदि के आधार पर निर्मित दबाव समूह कहे जा सकते हैं।

(क) प्रथागत– जिन समूहों के सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार और कार्यप्रणाली में सामाजिक रीति–रिवाजों की प्रधानता होती है उन्हें प्रथागत कहा जाता है। जातियों, प्रजातियों आदि के सामुदायिक समूह प्रथागत समूहों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

(ख) संस्थात्मक– जब एक ही जाति, धर्म या प्रजाति के लोग औपचारिक रूप से कुछ लक्ष्य निर्धारित कर उनकी प्राप्ति के लिए एक संस्था या संगठन बनाकर व्यवस्थित ढंग से शासन तंत्र से अपने हितों की पूर्ति के लिए संपर्कता स्थापित करते हैं तो ऐसे समूहों को संस्थात्मक समूह कहा जाता है। पिछड़ी जातियों व जनजातियों के अनेक ऐसे संगठन वर्तमान समय में भारत में सक्रिय रूप से विद्यमान हैं।

2. संघात्मक या संसर्गात्मक समूह– ब्लोण्डेल ने इन समूहों को जिनका विशिष्ट व सुनिश्चित लक्ष्य होता है संसर्गात्मक या संघात्मक समूह कहा है। इन समूहों के अस्तित्व का आधार विशिष्ट लक्ष्य होता है। यह किसी उद्देश्य विशेष की प्राप्ति के लिए निर्मित होते हैं।

(क) संरक्षणात्मक समूह– यह संघात्मक समूहों का ही एक प्रकार है। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विभिन्न व्यवसायिक संगठनों, श्रमिक संघों, व्यापार संघों आदि को संरक्षणात्मक समूह की श्रेणी में गिना जाता है। संरक्षणात्मक समूहों में श्रमिक संघ सर्वाधिक होते हैं।

(ख) उत्थानात्मक समूह– जब किसी विशेष विचार अथवा दृष्टिकोण के प्रचार और दृष्टि से समाज को उन्नत बनाने का लक्ष्य लेकर किन्हीं समूहों का निर्माण किया जाता है तो उन्हें उत्थानात्मक समूह कहते हैं। गौ संरक्षण, नारी स्वतंत्रता, निःशस्त्रीकरण, सार्वभौमिक मताधिकार आदि के लिए जिन समूहों का निर्माण होता है उन्हें उत्थानात्मक समूहों की श्रेणी में रखा जाता है।

टिप्पणी

दबाव समूहों की आलोचना व महत्व

दबाव समूहों के आलोचक यह मानते हैं कि इन समूहों की उत्पत्ति राजनीति के लिए हानिकारक है। राजनीति में प्रवेश कर उसे अपने संकीर्ण–स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रभावित करते हैं। दबाव समूहों के अनेक दोष इस प्रकार हैं–

1. **सार्वजनिक हितों की उपेक्षा**– दबाव समूह अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण का निरादर करते हैं। कभी–कभी उनके वर्गीय हितों से सामान्य हितों को हानि पहुंचने की संभावना रहती है।
2. **राजनीतिक प्रक्रिया में भ्रष्टाचार फैलाना**– अधिकांश दबाव समूह हमारे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अनेक घृणित उपायों का सहारा लेते हैं। वे विधायकों को घूस देने, अनैतिक और अनुचित आचरण के कार्य भी करते हैं।
3. **लॉबीइंग**– अनेक दबाव समूह लाबिस्ट द्वारा कार्य करते हैं। वी.ओ.की. के अनुसार, "दबाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क में एक ऐसे शैतान लाबिस्ट का चित्र अंकित कर देता है जो उचित पथगामी विधायक को सार्वजनिक हित की धारणा को हटाने के लिए अनुचित दबाव डालने का प्रयास करता है।"
4. **हिंसा की राजनीति के संगठित स्रोत**– दबाव समूह सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करते रहते हैं। मायरन वीनर के अनुसार, "गैर–पश्चिमी देशों में हिंसा का संगठित प्रयोग किया जाता है, किंतु अधिकांश ये हिंसात्मक कार्यवाहियां अचानक नहीं हो जाती अपितु और संगठित और योजनाबद्ध होती हैं।"

   दबाव समूह कहां तक नैतिक और प्रजातांत्रिक आचरण करते हैं, यह बहुत कुछ नेतृत्व के गुण पर निर्भर करता है।

दबाव समूहों का महत्व

लोकतांत्रिक बहुलवादी समाज में दबाव समूहों का महत्व निर्विवाद है। दबाव एवं हित समूह दलों के पीछे 'सक्रिय जन' हैं। दबाव समूहों के महत्व और उपयोग पर आधुनिक विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं–

1. संघीय व्यवस्था में दबाव–समूह शासन के सभी स्तरों पर कार्यशील होते हैं। ये व्यक्तिगत नागरिकों को अवसर प्रदान करते हैं कि वे सार्वजनिक नीति में परिवर्तन लाने के लिए प्रभावशाली ढंग से कार्य करें। जिन विषयों पर तुरंत अथवा अल्पकाल में ही निर्णय की आवश्यकता होती है, वहां दबाव समूह सबसे अच्छा साधन है।
2. दबाव समूह के माध्यम से सार्वजनिक अधिकारियों पर आवश्यक अंकुश लगा रहता है। सार्वजनिक अधिकारियों के कार्यों पर दबाव समूहों की हमेशा निगाह रहती है जिससे वे निरंकुशता प्रवृत्ति से बचे रहते हैं।
3. सार्वजनिक अधिकारी स्वयं दबाव समूहों से लाभ उठाते हैं। शासन और समूह का संबंध पारस्परिक लाभ का है। विधायी, प्रशासनिक चाहे कोई भी अधिकारी

हो, सदैव यह जानने का प्रयास करते हैं कि लोगों की आवश्यकतायें क्या हैं? उन्हें इस संबंध में आवश्यक सूचनायें हित समूहों द्वारा प्राप्त होती हैं।

4. दबाव समूहों के कारण विभिन्न हितों में संतुलन बना रहता है। कोई एकमात्र प्रभावशाली सत्ता उदित नहीं हो पाती।

5. दबाव समूहों का महत्व शासन के लिए सूचनायें एकत्र करने वाले संगठनों के रूप में है। प्रत्येक देश में शासन के पास आकड़ों और सूचनाओं का विश्वस्त रिकॉर्ड उपलब्ध कराने में दबाव समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

अतः दबाव समूहों का महत्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। कई बार यह कहा जाता है कि ये समूह सरकार पर असंगठित जनता द्वारा अवांछनीय भार लादने पर रोक लगाते हैं।

ब्रिटिश राजनीति में दबाव समूह

ब्रिटेन में दबाव तथा हित समूहों का विकास 19वीं शताब्दी के सुधार आंदोलनों के परिणामस्वरूप हुआ। बीसवीं शताब्दी में दबाव समूहों की गतिविधियां बढ़ने का प्रमुख कारण है– राज्य का लोककल्याणकारी स्वरूप एवं शासन के अधिकार क्षेत्र में वृद्धि होना। ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था में पाये जाने वाले इन समूहों को मोटे रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. पहले प्रकार के समूह वे हैं जो न्यस्त या विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

2. दूसरे प्रकार के समूह वे हैं जो सार्वजनिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

1. **ब्रिटिश राजनीति में न्यस्त या विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले दबाव समूह**– इसके अंतर्गत वे दबाव समूह आते हैं जो विशिष्ट हितों के संरक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इस स्वरूप वाले दबाव समूह निम्न हैं–

(i) **व्यापारिक समूह**– निदेशक ब्रिटिश राजनीति में प्रभावशाली व्यापारिक समूह हैं– निदेशक संस्थान, ब्रिटिश उद्योगमण्डल, ब्रिटिश व्यापार मण्डल, ब्रिटिश निर्माताओं का संघ आदि।

(ii) **आर्थिक संगठन**– ब्रिटेन में लगभग 600–700 श्रमिक संगठन हैं। इन संगठनों में प्रमुख हैं– परिवहन और कामगार संघ, रेल कर्मचारी संघ, खान कर्मचारी संघ, बिजली व्यापार संघ आदि।

(iii) **पेशेवर संगठन**– ब्रिटेन में डॉक्टरों, प्राध्यापकों तथा सरकारी कर्मचारियों की भी अपनी यूनियनें हैं जो अपने सदस्यों के अधिकारों और वेतन वृद्धि व व्यावसायिक हितों के लिए कार्य करती हैं। पेशेवर संगठनों में ब्रिटिश चिकित्सा संघ, सरकारी कर्मचारियों का संघ, राष्ट्रीय शिक्षक संघ तथा राष्ट्रीय व स्थानीय सरकारी पदाधिकारी संघ।

2. **ब्रिटिश राजनीति में सार्वजनिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूह**– सार्वजनिक हितों की वृद्धि करने वाले समूह को 'उपकारी संघ' कहते हैं। ये वे गुट (समूह) हैं जिनके सदस्य किसी विशिष्ट वर्ग या व्यवसाय से संबंध नहीं रखते बल्कि विभिन्न वर्गों से संबंधित होते हैं। ये कुछ आदर्शों या मूल्यों में निष्ठा रखते हैं, जैसे–

टिप्पणी

राज्य शिक्षा प्रसार संघ, ब्रिटिश मानवतावादी संघ, दंड विधि में सुधार की मांग करने वाले होबार्ड लीग इत्यादि।

ब्रिटेन में संसदीय शासन प्रणाली के कारण दलीय अनुशासन बहुत दृढ़ होता है। साधारणतः विधायक अपने–अपने दल के निर्देशानुसार बोलने और वोट देने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। अतः वहां हित समूहों के लिए विधायकों को प्रभवित करने का अवसर बहुत कम रहता है। वहां के हित समूह अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रशासनिक विभागों से संपर्क स्थापित करके उन्हें अपनी समस्याओं से अवगत कराते हैं। सरकार और समूहों के बीच संपर्क को कानूनी मान्यता दे दी गई है। ब्रिटेन में दबाव समूह किसी न किसी राजनीतिक दल के साथ संबंधित रहते हैं। उदाहरण के लिए उद्योग से संबंधित संघ अनुदार दल से संबंधित रहें तो ट्रेड यूनियन कांग्रेस मजदूर दल के साथ हैं। ट्रेड यूनियनें चुनावों में लेबर पार्टी को धन भी देती हैं। चिकित्सकों, अध्यापकों और सरकारी अधिकारियों के संगठन अपनी नीतियों के निर्माण के समय सरकार के साथ बातचीत करने के लिए बाकायदा अधिकृत हैं।

अमेरिका राजनीति में दबाव समूह

संयुक्त राज्य अमेरिका में दबाव समूहों के विकास के लिए प्रधान रूप से देश का विशाल आकार, राजनीतिक दलों का कार्यक्रम तथा शक्ति–पृथक्करण पर आधारित अध्यक्षात्मक व्यवस्था के अंतर्गत विधि निर्माण का दायित्व कार्यपालिका– राष्ट्रपति के हाथों में न होकर कांग्रेस जनों के हाथों में केंद्रित है। फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गईं कि समान व्यवसाय या उद्योगों से संबंधित व्यक्ति अपने हितों की रक्षा के लिए समूह में संगठित होने लगे और अपने स्वार्थों के अनुकूल विधियों के निर्माण, विरोधी विधियों के निर्माण को रोकने तथा विधेयकों को प्रभावित करने का प्रयास करने लगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका में चिकित्सकों, वकीलों, अध्यापकों इत्यादि के हित समूह प्रभावशाली हैं। अमेरिका की वयस्क जनसंख्या में लगभग 17% लोग मजदूर संघों से संबंधित हैं। वाणिज्य, उद्योग और कृषि से जुड़े हुए लोगों तथा सरकारी कर्मचारियों के अपने–अपने हित समूह भी वहां प्रभावशाली हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़े–बड़े गैर–सरकारी निगमों के हित समूह अत्यंत संगठित, प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं। इनकी शक्ति को व्यक्त करते हुए राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने कहा था, "संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ऐसा शिशु है जो विशेष हितों की देखरेख में पला है।" अमेरिका में विधि निर्माण की प्रक्रिया में कांग्रेस की समितियां बहुत प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं और ये समितियां दलीय अनुशासन से नहीं बंधी होतीं। अतः जब किसी समूह का प्रवक्ता किसी विधायक से किसी विधेयक के पक्ष या विपक्ष में वोट देने के लिए प्रार्थना करता है या किसी समिति के सदस्य के सामने अपना दृष्टिकोण रखता है तो यह माना जाता है कि उसके निवेदन पर उचित ध्यान दिया जायेगा। अमेरिका में लॉबी प्रचार की प्रथा लंबे समय से चली आ रही है। अमेरिका में वाणिज्य मण्डल, निर्माताओं का राष्ट्रीय संघ, अमेरिकन श्रमिक संघ, औद्योगिक संगठनों की कांग्रेस, अमेरिकन बैंकर्स एसोसिएशन, दि अमेरिकन फार्म ब्यूरो फेडरेशन एवं राष्ट्रीय कृषक संघ, दि अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर इत्यादि प्रमुख दबाव समूह हैं।

टिप्पणी

विकासशील देशों में दबाव समूह

विकासशील देशों में दबाव समूह अभी उतने विकसित नहीं हुए हैं जितने विकसित देशों में हैं। विकासशील देशों में परंपरागत समाज रहे हैं। अतः हित स्पष्टीकरण की संस्थायें बहुत ज्यादा विकसित नहीं हो पाई हैं। इन देशों के समाजों में संक्रमणकालीन स्थिति है अर्थात परंपरागत विशेषताओं के साथ–साथ आधुनिक प्रवृत्तियों का विकास भी हो रहा है– तीव्र शहरीकरण, औद्योगीकरण, औपचारिक शिक्षा, जनसंपर्क के साधनों का विस्तार, सतत विकास के प्रयास, ऊर्जा का नवीनीकरण (भारत) आदि का विकास हो रहा है। विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

1. साध्य और साधनों पर सहमति का पूर्ण अभाव है। इसके कारण अनेक उपसंस्कृतियां निरंतर शक्ति संघर्ष में उलझी रहती हैं।
2. राजनीतिक गतिविधियां अधिकांशतः अभिजनों तक ही सीमित रहती हैं।
3. स्पष्ट भूमिका विभिन्नीकरण का अभाव रहता है। कौन–कौन सी संस्थायें किन–किन विधियों से क्या–क्या कार्य करेंगी इसकी अस्पष्टता रहती है।
4. राजनीतिक क्रिया विकासवादी विकास व क्रांतिकारी उथल–पुथल के बीच फंसी रहती है। इससे सैनिक शासन व अराजक घटनाओं की संभावनायें बनी रहती हैं।

इस प्रकार की विशेषताओं वाले राजनीतिक समाजों में दबाव समूहों की प्रकृति, गतिविधियां व कार्यशैली के निश्चित प्रतिमान नहीं हैं। इन देशों में दबाव समूहों की प्रकृति को निम्न रूप में देखा जा सकता है–

1. परंपरागत समाज होने के कारण इन समाजों में असमुदायात्मक दबाव समूह अपने कुलीय, जातीय, प्रादेशिक, वर्गीय व गुटीय हितों को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।
2. इन्हीं समाजों में कुछ आधुनिकीकृत वर्गों की विद्यमानता के कारण संस्थात्मक दबाव समूहों का गठन भी होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अधिकांश देशों में ट्रेड यूनियनों के रूप में संस्थात्मक दबाव समूह बहुत महत्वपूर्ण बन गये हैं।
3. विकासशील राज्यों में प्रदर्शनात्मक दबाव समूह अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं से कहीं अधिक पाये जाते हैं। राजनीतिक व्यवस्थाओं में ये नाटकीय ढंग से प्रकट होते हैं तथा धमकी, प्रदर्शन इत्यादि साधनों का प्रयोग करते हैं।
4. कुछ विकासशील राज्यों में सेना से संबंधित संस्थात्मक दबाव समूह अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में यही कहा जा सकता है कि इन देशों में सभी प्रकार के दबाव समूह विद्यमान हैं। इनकी कार्यशैली बहुत कुछ अनिश्चित, परस्पर विरोध तथा संघर्ष के कारण कई बार प्रभावशाली नहीं बन पाती। इन देशों में दबाव समूहों की भूमिका वहां की राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति पर निर्भर करती है।

अपनी प्रगति जांचिए

9. दबाव समूहों को 'अज्ञात साम्राज्य' की संज्ञा किस विद्वान ने दी है?

   (क) एस.ई. फाइनर (ख) ओडिगार्ड

   (ग) लास्की (घ) ब्राइस

10. आल्मण्ड तथा पावेल के दबाव समूहों के वर्गीकरण के अनुसार निम्न में से कौन–सा एक प्रकार है?

    (क) प्रथागत (ख) संरक्षणात्मक

    (ग) उत्थानात्मक (घ) समुदायात्मक

2.5 सामाजिक आंदोलन

सामाजिक आंदोलन वह प्रक्रिया है जिसमें बहुत सारे लोग कोई सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए या किसी सामाजिक प्रथा या प्रवृत्ति को रोकने के लिए एकजुट और सक्रिय हो जाते हैं या वे किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही दिशा में प्रयास करते हैं।

मैरिल व एल्ड्रिज (Merrill and Eldridge) के अनुसार, "सामाजिक आंदोलन रूढ़ियों में परिवर्तन के लिए अधिक या कम मात्रा में चेतन रूप से किये गये प्रयास हैं।"

थियोडोरसन के अनुसार, "सामाजिक आंदोलन सामूहिक व्यवहार का एक महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसमें परिवर्तन लाने अथवा उसका विरोध करने में सहयोग देने के लिए लोगों को बहुत बड़ी संख्या में संगठित अथवा जागरुक किया जाता है।"

अतः सामाजिक आंदोलन का उद्देश्य समाज अथवा संस्कृति में कोई आंशिक अथवा पूर्ण परिवर्तन लाना अथवा परिवर्तन का विरोध करना होता है। साधारणतः सामाजिक आंदोलन में विभिन्न तरह के लोग शामिल होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे किसी एक ही जाति, धर्म, क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, व्यवसाय या विशेष हित से जुड़े हुए व्यक्ति हों। अपने सामान्य लक्ष्य के प्रति उनकी चेतनता उन्हें एक–दूसरे के निकट ला देती है।

सामाजिक आंदोलन की विशेषताएं

सामाजिक आंदोलन की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. **सामाजिक उद्देश्य**– प्रत्येक सामाजिक आंदोलन का कोई न कोई निश्चित उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति संगठित एवं जागरुक होकर प्रयत्न करते हैं।
2. **सामाजिक परिवर्तन का एक स्वरूप**– सामाजिक आंदोलनों का उद्देश्य समाज में परिवर्तन लाना या परिवर्तन का विरोध करना होता है, जब कोई आंदोलन सफल हो जाता है तो वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप समाज में परिवर्तन लाता है।

3. **संकट अथवा सामाजिक समस्या**– प्रत्येक सामाजिक आंदोलन किसी न किसी समस्या के कारण जन्म लेता है। जब समाज में ऐसी कोई स्थिति पैदा हो जाती है जिसे लोग और अधिक सहन नहीं कर सकते तो उसे हटा देने तथा उसके स्थान पर नई व्यवस्था लाने के लिए सामाजिक आंदोलन किया जाता है।
4. **सामूहिक प्रयत्न**– सामाजिक आंदोलन एक सामूहिक व्यवहार है। सामाजिक आंदोलन में अधिकाधिक लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए असंतुष्ट लोगों को एकत्र किया जाता है।
5. **अनौपचारिक संगठन**– प्रत्येक सामाजिक आंदोलन का एक अनौपचारिक संगठन होता है। इस संगठन के द्वारा ही आंदोलन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए योजना बनाई जाती है, साधन जुटाये जाते हैं, धन एकत्रित किया जाता है तथा लोगों को समय–समय पर निर्देश दिये जाते हैं।
6. **नियोजित प्रयत्न**– सामाजिक आंदोलन के लिए निश्चित योजना बनाई जाती है और विभिन्न चरणों में उसे पूरा करने का सामूहिक प्रयास किया जाता है।
7. **सुधारात्मक प्रवृत्ति**– सामाजिक आंदोलन का उद्देश्य प्रचलित सामाजिक व्यवस्था अथवा संस्कृति में पूर्ण या आंशिक सुधार लाना होता है। जब पुरानी व्यवस्था में दोष उत्पन्न हो जाते हैं और सामाजिक मूल्य, आदर्श एवं संगठन लोगों की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाते तो उनमें परिवर्तन एवं सुधार लाना आवश्यक हो जाता है।
8. **स्वाभाविक नेतृत्व का उदय**– इन आंदोलनों में स्वाभाविक नेतृत्व का उदय होता है। हालांकि कभी–कभी समाज के कुछ प्रबुद्ध लोग या समाज सुधारक जनसाधारण में जागृति पैदा करके उन्हें आंदोलन की ओर प्रेरित कर सकते हैं।
9. **आम लोगों की सहभागिता**– इस गतिविधि में आम लोगों की सहभागिता मुख्य भूमिका निभाती है।

सामाजिक आंदोलनों के लक्ष्य

सामाजिक आंदोलनों के लक्ष्यों को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत व्यक्त किया जा सकता है–

1. अधिकांश सामाजिक आंदोलन किन्हीं विशिष्ट वर्गों और सत्ताधारियों के विरुद्ध चलाये जाते हैं। कई बार कुछ आंदोलन किन्हीं विशिष्ट विरोधियों को लक्ष्य करके संचालित किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत का स्वाधीनता आंदोलन ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चलाया था और अमेरिकी अश्वेतों का नागरिक अधिकारों के लिए आंदोलन वहां के श्वेत सत्ताधारियों के विरुद्ध चलाया गया था।
2. कई बार सामाजिक आंदोलनों का संचालन किसी बहुत बड़े समुदाय को न्याय दिलाने के लिए किया जाता है। कुछ सामाजिक आंदोलन मानवकल्याण के लिए चलाये जाते हैं। उदाहरण के लिए नारीवादी आंदोलन, उपभोक्ताओं, कामगारों को न्याय दिलाने के लिए आंदोलन चलाये जाते हैं जबकि पर्यावरणवादी आंदोलन, निशस्त्रीकरण आंदोलन मानव मात्र के हित के लिए चलाये जाते हैं।

टिप्पणी

3. कुछ सामाजिक आंदोलन सत्ताधारियों या प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यप्रणाली पर प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए चलाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए किसी संवेदनशील मामले में पुलिस या प्रशासनिक अधिकारियों की निष्क्रियता की ओर ध्यान खींचने के लिए लोग प्रदर्शन कर सकते हैं और नारे लगा सकते हैं।

सामाजिक आंदोलनों के कारण

सामाजिक आंदोलन वहीं जन्म लेते हैं जहां सामाजिक परिस्थितियां इनके अनुकूल होती हैं। ये परिस्थितियां ही आंदोलन को प्रेरित करती हैं। आंदोलन में सहायक परिस्थितियों का उल्लेख इस प्रकार है–

1. **सांस्कृतिक स्रोत**– जब संस्कृति में नये मूल्य जन्म लेते हैं और लोगों की जीवन विधि में परिवर्तन या संशोधन होता है, तब सामाजिक आंदोलनों के जन्म लेने के अवसर बन जाते हैं। हार्टन एवं हण्ट के अनुसार, वर्तमान में आदिम एवं आधुनिक सभी समाजों के मूल्यों में धीमे, विस्तृत एवं महान परिवर्तन आ रहे हैं। इन्हें ही सांस्कृतिक स्रोत या बहाव कहा जाता है। मुक्ति आंदोलन तथा गोरे व नीग्रो लोगों को समान अधिकार दिलाने के आंदोलन इसी के अंतर्गत आते हैं।
2. **सामाजिक विघटन**– समाज में विघटन की स्थितियों में भी सामाजिक आंदोलन जन्म लेते हैं। परिवर्तनशील समाजों में आंदोलन अधिक होते हैं क्योंकि ऐसे समाजों में विघटन की संभावना अधिक होती है।
3. **सामाजिक अन्याय**– जब किसी समाज में लोगों को प्रगति के अवसर उपलब्ध न हो, न्याय महंगा हो, लोगों पर अन्याय और अत्याचार किया जाता हो, समाज में अत्यधिक असमानता व्याप्त हो तो ऐसी स्थिति भी समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए लोगों को सामाजिक आंदोलन के लिए प्रेरित करती है।
4. **सामाजिक पृथक्करण**– अनेक अध्यक्ष इस बात की पुष्टि करते हैं कि वे व्यक्ति या समूह जो कि समुदाय से पृथक कर दिये जाते हैं, आंदोलनों में अधिक भाग लेते हैं। पृथक्करण के कारण वे समुदाय के औपचारिक व अनौपचारिक जीवन में उन्हें बहुत कम भाग मिलता है और उनके सामाजिक संबंध भी शिथिल हो जाते हैं। अतः उन्हें आंदोलनों के लिए आसानी से प्रेरित किया जा सकता है।
5. **सरकारी निर्णयों के प्रति रोष**– कई बार सरकार के गलत निर्णयों के विरुद्ध समाज में तीव्र प्रतिक्रिया होती है। कई बार स्थिति ऐसी भी आ जाती है जब सरकारी निर्णय सही होते हैं लेकिन शासन के विरोधी पक्ष द्वारा समाज में अफवाहें फैलाकर जनता को आंदोलन के लिए प्रेरित किया है। जैसे भारत में समान नागरिक संहिता के विरुद्ध बड़े पैमाने पर विभिन्न समूहों के द्वारा प्रदर्शन किये गये।

उपर्युक्त सभी दशायें सामाजिक आंदोलन में सहायक हैं, किंतु मात्र सहायक दशाओं से ही आंदोलन नहीं होते जब तक कि समाज में वृहद स्तर पर असंतोष न हो।

सामाजिक आंदोलनों के विकास के स्तर

कोई भी आंदोलन एकदम से अपने तीव्र रूप में नहीं आता बल्कि उसका धीरे–धीरे विकास होता है। हालांकि सभी आंदोलन एक ही स्तर से विकसित नहीं होते फिर भी उनके विकास के चरणों में पर्याप्त समानता पाई जाती है।

हार्टन तथा हण्ट ने सभी सामाजिक आंदोलनों के विकास के निम्न चरणों का उल्लेख किया है–

1. **असंतोष की स्थिति**– जब कोई भी समाज लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ, समाज में विघटन, परिवर्तन एवं असंतोष की मात्रा अधिक हो तो आंदोलन का जन्म होता है।
2. **उत्तेजनापूर्ण स्थिति**– प्रारंभ में असंतोष सामान्य प्रकृति का होता है, धीरे–धीरे उत्तेजना बढ़ती जाती है। नेतृत्व का विकास होता है जो लोगों को उत्तेजित करता है और आंदोलन के लिए अपील करता है।
3. **औपचारीकीकरण की स्थिति**– तीसरे चरण में आंदोलन व्यवस्थित, संगठित एवं अनुशासित रूप धारण कर लेता है। नेतृत्व आंदोलनकारियों को एक औपचारिक संगठन में बांधता है। इस स्तर पर आंदोलन के नियमों की कार्यविधि तय की जाती है। फण्ड एकत्रित किया जाता है। आंदोलन की विचारधारा स्पष्ट की जाती है।
4. **संस्थाकरण की स्थिति**– जब कोई आंदोलन लंबे समय तक चलता है तो उसका कोई न कोई संस्थात्मक रूप विकसित हो जाता है। उसके नियम, संविधान, भवन, अधिकारी गण, प्रतीक, झंडा, साहित्य आदि तय हो जाते हैं।
5. **समापन की स्थिति**– कुछ आंदोलन अपने लक्ष्य की प्राप्ति के बाद और कुछ बीच में ही समाप्त हो जाते हैं।

सामाजिक आंदोलनों के प्रकार

अलग–अलग विद्वानों ने सामाजिक आंदोलनों का वर्गीकरण अलग–अलग प्रकार से किया है।

हार्टन तथा हण्ट का वर्गीकरण

हार्टन तथा हण्ट ने सामाजिक आंदोलनों को निम्नांकित भागों में बांटा है–

1. **देशांतर आंदोलन**– युद्ध, अकाल, बाढ़ एवं महामारी के समय इस प्रकार का आंदोलन होता है। भारत विभाजन एवं बांग्लादेश के निर्माण के समय इसी प्रकार की स्थिति थी। लोग किसी स्थान या देश में व्याप्त असंतोष के कारण सामूहिक रूप से दूसरे देश या स्थान पर जाकर रहने का निर्णय करते हैं।
2. **अभिव्यक्ति आंदोलन**– इस आंदोलन में व्यक्ति अपने असंतोष को दूसरे माध्यमों से प्रकट करता है। 1960 के दशक में अमेरिकन विश्वविद्यालयों में छात्रों द्वारा संचालित नववामपंथी आंदोलन अभिव्यक्ति आंदोलन का उदाहरण है। अमेरिका के हिप्पी आंदोलन के अंतर्गत हिप्पी लोग परंपरागत मूल्यों को नकारते हैं, गंदे वस्त्र पहनते हैं, दाढ़ी रखते हैं, विभिन्न प्रकार की नशीली वस्तुओं का

टिप्पणी

सेवन करते हैं। अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों से यह आंदोलन संचालित किया जाता है।

3. **काल्पनिक आंदोलन**– इस प्रकार के आंदोलन महान विचारकों द्वारा अपने काल्पनिक एवं आदर्श समाज की रचना के लिए किये जाते हैं। बिनोबा भावे द्वारा संचालित ग्रामदान व भूदान आंदोलन और मार्क्स का साम्यवादी आंदोलन इसी श्रेणी में आते हैं।
4. **सुधार आंदोलन**– इस प्रकार के आंदोलनों का उद्देश्य प्रचलित समाज व्यवस्था की बुराइयों को दूर कर उसमें सुधार लाना होता है न कि संपूर्ण व्यवस्था को बदलना। भारत में रामकृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज, राजा राममोहन राय और ईश्वर चंद्र विद्यासागर द्वारा भारत में चलाये गये आंदोलन इसी श्रेणी में आते हैं।
5. **क्रांतिकारी आंदोलन**– फ्रांस, रूस की राज्यक्रांतियां क्रांतिकारी आंदोलनों के उदाहरण हैं। क्रांतिकारी आंदोलनों के द्वारा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़कर उसके स्थान पर एक भिन्न व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।
6. **अवरोधक आंदोलन**– क्रांतिकारी आंदोलनों का उद्देश्य परिवर्तन की गति को तीव्र करना होता है जबकि अवरोधक आंदोलन का उद्देश्य परिवर्तन की तीव्रता को रोकना अथवा समाप्त करना होता है। औद्योगीकरण के कारण श्रमिकों की छंटनी होती है तब मजदूर वर्ग उसका विरोध करता है। भारत में तीन तलाक अधिनियम पारित होने पर कट्टरपंथी मुस्लिम वर्ग के द्वारा उसका विरोध किया गया।

हरबर्ट ब्लूमर का वर्गीकरण

ब्लूमर ने सामाजिक आंदोलनों को तीन भागों में विभक्त किया है–

1. **सामान्य सामाजिक आंदोलन**– महिला आंदोलन, श्रमिक आंदोलन, युवक आंदोलन इस श्रेणी में आते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों में धीरे–धीरे परिवर्तन के फलस्वरूप इस प्रकार के आंदोलन जन्म लेते हैं। ऐसे आंदोलनों के नवीन मूल्य, विचार तथा विश्वास प्रारंभ में अस्पष्ट होते हैं अतः इनके आधार पर विकसित आंदोलन भी अस्पष्ट एवं असंगठित होते हैं।
2. **विशिष्ट सामाजिक आंदोलन**– ऐसे आंदोलनों के निश्चित उद्देश्य होते हैं तथा संगठित प्रकार के होते हैं। ऐसे आंदोलनों से संबंधित विचारधारा तथा मान्यताओं का पालन सदस्यों को करना पड़ता है। सुधार आंदोलन तथा क्रांतिकारी आंदोलन इस प्रकार के आंदोलन की श्रेणी में आते हैं।
3. **अभिव्यक्तात्मक सामाजिक आंदोलन**– इस प्रकार के आंदोलनों का उद्देश्य किसी भी विषय में सामूहिक असहमति को प्रतीक रूप में प्रकट करना होता है। इन आंदोलनों को ब्लूमर ने दो भागों में बांटा है–

   (क) धार्मिक आंदोलन (ख) फैशन आंदोलन

अतः उपरोक्त के अतिरिक्त हम आंदोलनों को राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक आंदोलनों की श्रेणी में भी बांट सकते हैं।

सामाजिक आंदोलन सार्वजनिक नीति और निर्णय की प्रक्रिया में जनसाधारण की सहभागिता का ऐसा उपकरण प्रस्तुत करते हैं जो राजनीतिक दलों और हितसमूहों से तो अलग किंतु अत्यंत प्रभावशाली हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. सामाजिक आंदोलन रूढ़ियों में परिवर्तन के लिए अधिक या कम मात्रा में चेतन रूप से किये गये प्रयास हैं– यह परिभाषा किस विद्वान के द्वारा दी गई है?
    (क) थियोडोरसन (ख) मैरिल व एल्ड्रिज
    (ग) हरबर्ट ब्लूमर (घ) हार्टन एवं हण्ट
12. 'महिला आंदोलन' किस श्रेणी में आता है
    (क) राजनीतिक (ख) आर्थिक
    (ग) सामाजिक (घ) धार्मिक

2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ख)
7. (क)
8. (घ)
9. (क)
10. (घ)
11. (ख)
12. (ग)

2.7 सारांश

राजनीतिक दल, दबाव समूह, अभिजन राजनीतिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। राजनीति एक समूह प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक समूह दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राजनीतिक दल अपेक्षाकृत बड़े विचारात्मक रूप से एकीकृत होते हैं तथा संगठित होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से शासन शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तथा अपेक्षाकृत छोटे तथा हित आधारित दबाव समूह नीतियों को इस प्रकार प्रभावित करने का प्रयास करते हैं जिससे उनके हित सुरक्षित रह सकें।

टिप्पणी

राजनीतिक अभिजन हर व्यवस्था का अनिवार्य अंग हैं। राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े हर वर्ग, समूह, संगठन की संरचना, व्यवहार और मूल्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अतः विभिन्न देशों में इनकी भिन्न प्रकृति का अध्ययन कर तुलनात्मक अध्ययनों को अधिक व्यापक बनाया जा सकता है।

वर्ग की संकल्पना मुख्यतः आर्थिक संकल्पना है। मार्क्सवाद केवल दो वर्ग स्वीकार करता है– धनवान और निर्धन। मार्क्सवाद के अनुसार, इन दोनों के हित सदैव एक–दूसरे के विरुद्ध होते हैं, अतः इनका संघर्ष एक चिरंतन प्रक्रिया है। इस संघर्ष का अंतिम समाधान सर्वहारा की क्रांति है जिसमें धनवान वर्ग पर निर्धन वर्ग की विजय अवश्यंभावी है। इसके परिणामस्वरूप अंततः वर्ग व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी।

किसी राज्य की राजनीतिक शक्ति चाहे वह लोकतंत्रीय हो या नहीं, सदैव लोगों के एक छोटे से समूह, नेतागण या नेतृत्व करने वाले अल्पसंख्यकों के हाथों में रहती है। प्रतिनिधि लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग निर्वाचित उच्च नेताओं के समूह द्वारा किया जाता है और एक सर्वसत्तावादी शासन में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग निर्वाचित उच्च नेताओं के समूह द्वारा किया जाता है।

अभिजन समाज के सभी क्षेत्रों में विद्यमान होते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में जो व्यक्ति अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण अन्य साधारण जनों से आगे निकल जाते हैं, उन्हें राजनीतिक अभिजन की संज्ञा प्रदान की जाती है। धर्म के क्षेत्र में भी ऐसे श्रेष्ठ जन होते हैं। प्रशासनिक क्षेत्र में जो लोग श्रेष्ठ होते हैं उन्हें प्रशासकीय अभिजन कहा जाता है।

फ्रांसीसी विचारक मौरिस दूवर्जर ने अपनी चर्चित कृति 'पालिटिकल पार्टीज' (1955) के अंतर्गत लिखा है कि राजनीतिक दलों की उत्पत्ति को समझना बहुत कठिन नहीं है। प्रारंभ में व्यवस्थापिका के अंदर कुछ मुद्दों के बारे में सहमति के आधार पर कुछ समूह उभरकर सामने आते हैं, इसके बाद निर्वाचन समितियां बनती हैं। परिणामस्वरूप इन दोनों तत्वों में स्थायी संबंध स्थापित हो जाता है जिससे राजनीतिक दल अस्तित्व में आते हैं। अधिकांशतः संसदीय समूह का उद्‌भव किसी राजनीतिक सिद्धांत या विचारधारा के संदर्भ में होता है। परंतु कभी–कभी व्यवसायिक हितों की समानता, भौगोलिक निकटता, परस्पर लाभ, लेन–देन का विचार भी कुछ लोगों को एक–दूसरे के निकट ला देता है।

व्यक्तियों के ऐसे समूह को दबाव समूह कहा जाता है जो सरकार के निर्णयों को अपने विशिष्ट हितों की रक्षा करने हेतु प्रभावित करने का प्रयास करता है। किंतु नीतियों के प्रभावक के रूप में यह अपने सदस्यों को औपचारिक सरकारी पदों पर स्थापित करने का प्रयास नहीं करता। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनावों में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में यही कहा जा सकता है कि इन देशों में सभी प्रकार के दबाव समूह विद्यमान हैं। इनकी कार्यशैली बहुत कुछ अनिश्चित, परस्पर विरोध तथा संघर्ष के कारण कई बार प्रभावशाली नहीं बन पाती। इन देशों में दबाव समूहों की भूमिका वहां की राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति पर निर्भर करती है।

टिप्पणी

सामाजिक आंदोलन वह प्रक्रिया है जिसमें बहुत सारे लोग कोई सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए या किसी सामाजिक प्रथा या प्रवृत्ति को रोकने के लिए एकजुट और सक्रिय हो जाते हैं या वे किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही दिशा में प्रयास करते हैं।

सामाजिक आंदोलन सार्वजनिक नीति और निर्णय की प्रक्रिया में जनसाधारण की सहभागिता का ऐसा उपकरण प्रस्तुत करते हैं जो राजनीतिक दलों और हितसमूहों से तो अलग किंतु अत्यंत प्रभावशाली हैं।

2.8 मुख्य शब्दावली

- **वर्ग** : वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनकी समान सामाजिक या आर्थिक प्रस्थिति होती है।
- **वर्गविहीन समाज** : ऐसा समाज जिसमें सभी समान हों तथा किसी भी छोटा–बड़ा कोई वर्ग न हो।
- **प्रतिनिधि लोकतंत्र** : यह लोकतंत्र का एक प्रकार है जिसमें जनता स्वयं शासन में भाग न लेकर अपने प्रतिनिधि चुनती है और व शासन करते हैं।
- **सर्वसत्तावाद या सर्वाधिकारवाद** : ऐसी शासन प्रणाली है जो व्यक्ति के संपूर्ण जीवन पर सर्वोच्च अधिकार का दावा करती है।
- **अल्पसमूह** : संख्या में कम लोगों का समूह।
- **लोकतंत्र** : वह शासन व्यवस्था जिसमें जनता का शासन होता है।
- **क्रांति** : क्रांति किसी देश में ऐसे तीव्र, मौलिक और हिंसक परिवर्तन हैं जिनसे समाज के प्रमुख मूल्यों, उनकी राजनीतिक संस्थाओं, उसके सामाजिक ढांचे नेतृत्व, सरकार की गतिविधियों और नीतियों में आमूल परिवर्तन आ जाता है।
- **शक्ति** : एक व्यक्ति या संस्था की अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को अपनी बात मनवाने की क्षमता की मात्रा को कहते हैं। यह शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक तथा कानूनी किसी भी प्रकार की हो सकती है।
- **समाजवाद** : वह आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांत जिसके अनुसार उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर सार्वजनिक नियंत्रण और स्वामित्व स्थापित हो।
- **लाबिंग** : संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव समूहों की एक विशेष गतिविधि जिसमें इन समूहों के प्रतिनिधि कानून निर्माण के दौरान विधानमंडल की लॉबी या उपकक्ष में उपस्थित होकर वहीं से विधायकों या विधायी समितियों के सदस्यों को पक्ष में बोलने या मतदान करने के लिए प्रेरित करते हैं।
- **विकासशील देश** : एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के उन देशों को कहा जाता है जिन्हें राजनीतिक स्वतंत्रता दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्राप्त हुई है।
- **संसदात्मक व्यवस्था** : जिस सरकार में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के बहुत निकट के संबंध हों तथा इसमें संसद के बहुमत दल से कार्यपालिका बनती है और अविश्वास होने पर त्याग पत्र दे देती है।

टिप्पणी

- **अध्यक्षात्मक** : वह सरकार होती है जिसमें व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के बीच निकट संबंध नहीं होते। दोनों का चुनाव जनता करती है तथा कोई किसी को हटा नहीं सकता।
- **मताधिकार** : मत देने का अधिकार।
- **लोकतंत्र** : वह शासन व्यवस्था जिसमें जनता का शासन होता है।

2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक अभिजन वर्ग की विशेषतायें बताइये।
2. वर्ग की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।
3. अभिजन की धारणा और लोकतंत्र में संबंध स्पष्ट कीजिये।
4. राजनीतिक दलों के कार्यों का उल्लेख कीजिये।
5. राजनीतिक दल एवं दबाव समूहों के प्रमुख अंतरों को बताइये।
6. बहुदलीय प्रणाली के गुण दोषों का उल्लेख कीजिये।
7. दबाव समूहों के संबंध में आमण्ड के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिये।
8. सामाजिक आंदोलनों का अर्थ एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अभिजन के संबंध में परेटो एवं मोस्का के विचारों पर प्रकाश डालिए।
2. दलीय प्रणाली के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिए।
3. राजनीतिक दलों के लक्षणों को बताते हुए दलीय संगठन के विषय में मौरिस दूरवर्जर के विचारों का उल्लेख कीजिये।
4. दबाव समूहों के महत्व का मूल्यांकन करते हुए ब्रिटिश राजनीति के संदर्भ में दबाव समूहों का उल्लेख कीजिये।
5. दबाव समूहों की विशेषताओं एवं कार्य साधनों को स्पष्ट कीजिये।
6. सामाजिक आंदोलनों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

2.10 सहायक पाठ्य सामाग्री

1. गाबा, ओमप्रकाश, "राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा", मयूर पेपर बैक्स नोएडा।
2. गेना, सी.बी., "तुलनात्मक राजनीति" विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली।
3. शर्मा, प्रभुदत्त, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें" कालेज बुक डिपो, जयपुर।
4. जौहरी, जे.सी. "तुलनात्मक राजनीति" स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई दिल्ली।
5. डॉ. धर्मवीर, "राजनीतिक समाजशास्त्र", राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

इकाई 3 राजनीतिक विकास, उपनिवेशवाद की उत्पत्ति एवं प्रकार

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 राजनीतिक विकास
3.3 उपनिवेशवाद की उत्पत्ति
3.4 उपनिवेशवाद के प्रकार
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

दूसरे विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में बहुत से देशों का नये राज्यों के रूप में उदय और उनमें विभिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं व प्रक्रियाओं ने इनके अध्ययन की विभिन्न चुनौतियां उपस्थित कर दीं। यह माना जाने लगा कि उपनिवेशवाद से मुक्त गैर–पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाएं, पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं से आधारभूत ढंग से भिन्न हैं। इसलिए इनको समझने के लिए तुलनात्मक राजनीति में नये–नये उपागमों एवं नई–नई संकल्पनाओं का प्रयोग आरंभ हो गया। विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को विकास के परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए राजनीतिक विकास उपागम तथा इनकी पारिस्थितिकीय शक्तियों का, राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करने में निर्णायक प्रभावों और दबावों का अध्ययन किया जाने लगा।

प्रस्तुत इकाई में तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत राजनीतिक विकास की अवधारणा, उपनिवेशवाद की उत्पत्ति, उपनिवेशवाद संबंधी सिद्धांत, उपनिवेशवाद के प्रकार आदि तथ्यों का वर्णन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक विकास का अर्थ एवं उसके दृष्टिकोणों से परिचित हो पाएंगे;
- राजनीतिक विकास के संदर्भ में ल्यूसियन पाई के दृष्टिकोण को समझ पाएंगे;
- राजनीतिक विकास के स्तरों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद में अंतर कर पाएंगे;
- उपनिवेशवाद का उद्‌भव एवं उसके प्रकारों का वर्णन कर पाएंगे।

टिप्पणी

3.2 राजनीतिक विकास

राजनीतिक विकास तुलनात्मक राजनीति की एक नवीन अवधारणा है जो विकास की संपूर्णता के संदर्भ में नये विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने में सहायक है। इसका प्रयोग एक अवधारणा के रूप में ल्यूसियन पाई, आल्मण्ड, कोलमैन, रिग्स, माइनर वीनर, एप्टर आदि ने नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, म्यांमार, भारत, घाना आदि विकासशील देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए किया। इन अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र को भी सम्मिलित किया जाता है।

राजनीतिक विकास का अर्थ एवं परिभाषाएं

राजनीतिक विकास की अवधारणा का प्रयोग विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न अर्थों में किया है।

1. स्पर्ट, इमर्सन, कोलमैन ने राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में माना है।
2. रोस्टोव ने इसे औद्योगिक समाजों की विशेष राजनीति बताया है।
3. गुन्नार मिर्डल और लर्नर इसे राजनीतिक आधुनिकीकरण का पर्यायवाची मानते हैं।
4. बाइंडर इसको राष्ट्रीय राज्य का संघटक मानता है।
5. रिग्स इसकी व्याख्या प्रशासकीय तथा कानूनी आधार पर करते हैं।
6. आल्मण्ड और कोलमैन इसको लोकतंत्र का पर्याय मानते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक विकास की व्याख्याएं विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती हैं।

आल्मण्ड और पावेल के अनुसार– "राजनीतिक विकास राजनीतिक संस्कृति की अभिवृद्धि, विभिन्नीकरण और विशेषीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति का बढ़ा हुआ लौकिकीकरण है।"

ल्यूसियन पाई ने इसकी सर्वप्रथम परिभाषा उस समय दी जब इस अवधारणा का विकास हो रहा था– "राजनीतिक विकास, संस्कृति का विसरण और जीवन के पुराने प्रतिमानों को नई मांगों के अनुकूल बनाने, उन्हें उनके मिलाने या उनके साथ सामंजस्य बैठाना है।"

पाई ने राजनीतिक विकास की परिभाषा बाद में अधिक व्यापक रूप से स्पष्ट की।

नये अर्थ में राजनीतिक विकास को एक ऐसी प्रक्रिया माना गया जिससे जनता में समानता आए, राजनीतिक व्यवस्था में उठनेवाली मांगों का संसाधन और समाधान करने की क्षमता हो और राजनीतिक संरचनाओं का विभेदीकरण हो जाए। अतः ल्यूसियन पाई की राजनीतिक विकास की अवधारणा तीन स्तंभों पर आधारित है– 1.समानता, 2. क्षमता, 3. विभिन्नीकरण।

टिप्पणी

एल्फ्रेड डायमेंट के अनुसार– "राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था में नये प्रकार के लक्ष्यों को निरंतर सफल रूप से प्राप्त करने की क्षमता बनी रहती है।"

अतः राजनीतिक विकास वह प्रक्रिया है जिससे जनता की समानता गैर राजनीतिक व्यवस्था की कार्यक्षमता तथा उसकी उपव्यवस्थाओं की स्वायत्तता में वृद्धि होती है।

राजनीतिक विकास संबंधी दृष्टिकोण

राजनीतिक विकास से संबंधित दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं– 1. एकमार्गी, 2. बहुमार्गी।

एकमार्गी दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण के अनुसार, राजनीतिक विकास का केवल एक मार्ग है जिसका अनुसरण सभी राष्ट्र करते हैं। विभिन्न राष्ट्र इस मार्ग पर विकास की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में हैं। कुछ राष्ट्र विकास की उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त कर चुके हैं जबकि कुछ राष्ट्र अभी विकास की निम्न अवस्थाओं को ही प्राप्त कर पाए हैं। राजनीतिक विकास की निम्न अवस्थाओं तक पहुंचे राष्ट्रों के लिए विकसित राज्य एक आदर्श है। विकसित राष्ट्रों में पहला आदर्श पाश्चात्य जगत का है, दूसरा आदर्श चीन का है।

बहुमार्गी दृष्टिकोण : राजनीतिक विकास बहु–दिशायी और बहुआयामी है। इसका तर्क यह है कि विकास की अनेक दिशाएं होती हैं जिन पर चलकर राष्ट्र अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र इन पर चलने के लिए स्वतंत्र होता है।

राजनीतिक विकास का ल्यूसियन पाई का विश्लेषण

राजनीतिक विकास की अवधारणा का विश्लेषण करने में ल्यूसियन पाई का नाम अग्रणी है। पाई ने अपनी पुस्तक 'आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल डेवलपमेंट' में विभिन्न विद्वानों के राजनीतिक विकास की विभिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करते हुए इस संबंध में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

1. **राजनीतिक विकास आर्थिक विकास की पूर्व शर्त के रूप में**– पाल. ए. बारान, नॉर्मन एस. बुकानन, हिंगिस, कोलमैन जैसे विद्वानों ने यह माना है कि आर्थिक विकास के मार्ग को सहज बनाने में राजनीतिक परिस्थितियां महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। चूंकि एशिया व अफ्रीका के अनेक देशों में राजनीतिक विकास नहीं हुआ इसलिए वहां आर्थिक विकास भी नहीं हो पाया। पाई इस तर्क को स्वीकार नहीं करता क्योंकि इससे आर्थिक विकास राजनीतिक विकास से जुड़कर रह जाता है।
2. **औद्योगिक समाजों की विशिष्ट राजनीति के रूप में राजनीतिक विकास**– रोस्टोव ने इन दोनों को परस्पर संबंधित करके राजनीतिक विकास को समझाया है। यह धारणा भी आर्थिक विकास से संबंधित होने के कारण अमान्य हो जाती है।
3. **राजनीतिक आधुनिकीकरण के रूप में राजनीतिक विकास**– कोलमैन, लिप्सैट यह मानते हैं कि राजनीतिक विकास से अभिप्राय विकसित पश्चिमी और आधुनिक देशों का अध्ययन है और साथ ही उन तौर–तरीकों का अध्ययन है जिनका अनुकरण करने का प्रयास विकासशील देश कर रहे हैं। पाई के

टिप्पणी

अनुसार, दृष्टिकोण में इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि पिछड़े और विकासशील देशों की अपनी परंपराएं हैं, जिन्हें वे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते।

4. **राष्ट्रीय राज्य के परिचालन के रूप में राजनीतिक विकास**– एडवर्ड शिल्स जैसे विद्वानों के अनुसार, राजनीतिक विकास में राजनीतिक जीवन का संगठन और राजनीतिक कार्यों की संपन्नता इन मानदंडों के अनुसार होती है जो एक आधुनिक राष्ट्रीय राज्य में अपेक्षित है। पाई के अनुसार, राष्ट्रवाद राजनीतिक विकास को सुनिश्चित करने के लिए एक आवश्यक शर्त तो है लेकिन कोई पर्याप्त शर्त नहीं।

5. **प्रशासकीय और कानूनी विकास के रूप में राजनीतिक विकास**– पारसंस, मैक्स वेबर जैसे विद्वान यह मानते हैं कि राजनीतिक विकास समाज की प्रशासनिक और वैधानिक व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। अतः विकास की प्रक्रिया के लिए प्रभावपूर्ण नौकरशाही का होना आवश्यक है। लेकिन पाई यह मानता है कि प्रशासन को अधिक महत्व देने से राजनीतिक व्यवस्था में असंतुलन पैदा हो जाएगा।

6. **जनगतिशीलता और सहभागिता के रूप में राजनीतिक विकास**– इसके अंतर्गत राजनीतिक विकास से अभिप्राय जनता की राजनीतिक जागरूकता से उत्पन्न गतिशीलता और मताधिकार के विस्तार द्वारा शासन के कार्यों में उसकी सहभागिता से है। पाई का कहना है कि ऐसे दृष्टिकोण से भ्रष्ट जन उत्तेजना का खतरा बढ़ जाएगा।

7. **लोकतंत्र के निर्माण के रूप में राजनीतिक विकास**– जोसेफ ला पालम्बारा और जे. रोनाल्ड पीनॉक का विचार है कि राजनीतिक विकास का लोकतंत्र के निर्माण और लोगों में लोकतांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों को स्थापित करने में घनिष्ठ संबंध है। पाई ने लोकतंत्र और विकास को एक–दूसरे से भिन्न माना है।

8. **स्थायित्व अथवा व्यस्थित परिवर्तन के रूप में राजनीतिक विकास**– कार्ल ड्यूच और एफ. डब्ल्यू. रिग्स का मानना है कि राजनीतिक विकास स्थायित्व अथवा व्यवस्थित परिवर्तन से संबंधित है। पाई इस दृष्टिकोण को भी पर्याप्त नहीं मानता।

9. **गतिशीलता और शक्ति के रूप में राजनीतिक विकास**– कोलमैन, आल्मण्ड का यह मानना है कि हम राजनीतिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन इस आधार पर कर सकते हैं कि वे अपनी शक्ति का प्रयोग किस मात्रा में करती हैं। पाई के अनुसार, यह तर्क उन व्यवस्थाओं पर लागू नहीं होता जहां सत्ता के संचालन को जान–बूझकर सीमित रखा जाता है।

10. **सामाजिक परिवर्तन की बहुआयामी प्रक्रिया के आयाम के रूप में राजनीतिक विकास**– राजनीतिक विकास किसी न किसी रूप में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के अन्य पहलुओं से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। पाई इस दृष्टिकोण की प्रशंसा करता है। इसमें विकास के सभी पक्ष एक–दूसरे से संबंधित हैं।

टिप्पणी

पाई ने उपरोक्त व्याख्याओं को अपूर्ण मानते हुए राजनीतिक विकास को राजनीतिक व्यवस्था के तीन भिन्न–भिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों से संबंधित माना है। ये तीन पहलू इस प्रकार हैं–

1. **संपूर्ण जनसंख्या के संदर्भ में**– इस दृष्टि में राजनीतिक विकास का अर्थ यह है कि जनता की राजनीतिक प्रवृत्ति में कोई मौलिक परिवर्तन हुए हैं या नहीं। जनता व्यवस्था में उदासीन है अथवा सहभागी। जनता पराधीनता के स्तर पर रहकर ऊपर के अधिकारियों से आदेश प्राप्त करने और उनके अनुसार कार्य करने के स्थान पर राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया को निरूपित करने वाली और उसमें सहभागी बन जाए। जनता में समानता के सिद्धांतों के प्रति अधिक संवेदनशीलता आ जाए। इसको ल्यूसियन पाई 'समानता' के एक शब्द में अभिव्यक्त करते हैं।
2. **शासकीय और सामान्य व्यवस्थाई निष्पादन के स्तर के संदर्भ में**– इस स्तर पर राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक व्यवस्था की उस अभिवृद्धि क्षमता से लिया जाता है जिससे वह सार्वजनिक मामलों को आधिकारिक और अच्छी तरह से निष्पादित करने लगती है। इस दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था के विकसित होने का पता इस बात से लगाया जा सकता है कि क्या राजनीतिक मामलों का उचित प्रबंध कर पाती है। क्या राजनीतिक विवादों को नियंत्रित रख पाती है, क्या राजनीतिक जनता की मांगों का उचित निपटारा कर पाती है। पाई ने राजनीतिक व्यवस्था के इस लक्षण को 'क्षमता' के नाम से पुकारा है।
3. **राजनीति के संगठन के संदर्भ में**– राजनीति के संगठन के रूप में राजनीतिक विकास वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में तीन बातें पाई जाती हैं– संरचनात्मक विभिन्नीकरण बढ़ जाता है। संरचनाओं में बहुत अधिक प्रकार्यात्मक विशेषीकरण बढ़ जाता है। सहभागी संस्थाओं और संगठनों में अधिकाधिक एकता व समन्वय स्थापित हो जाता है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के संगठन के संदर्भ में राजनीतिक विकास संरचनात्मक विभिन्नीकरण और कार्यात्मक विशेषीकरण का संकेतक है। पाई ने इसे 'विभिन्नीकरण' का नाम दिया है।

ल्यूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की इस त्रिमुखी व्याख्या का आधार स्तंभ समानता, क्षमता और विभिन्नीकरण हैं। वह उन्हीं राजनीतिक व्यवस्थाओं को राजनीतिक विकास के मार्ग पर अग्रसर मानता है जिसमें ये तीन लक्षण हों।

राजनीतिक विकास की विशेषताएं

विभिन्न विचारकों के अनुसार राजनीतिक विकास की विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार है–

ल्यूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की विशेषताएं

ल्यूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की तीन विशेषताएं हैं–

(क) समानता : राजनीतिक विकास के लक्षण के रूप में समनता से पाई का तात्पर्य इसकी निम्नलिखित विशेषताओं से है–

1. राजनीतिक सक्रियता के सभी स्तरों पर नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हों।
2. जनसहभागिता भेदभाव रहित हो।

टिप्पणी

3. पराधीन और आदेश प्राप्त करने वाली जनता के स्थान पर राजनीतिक निर्णयों में सम्मिलित और सहयोगी जनता हो।
4. कानून सर्वव्यापकता रखते हों अर्थात समाज के सभी व्यक्ति एक से कानून के अनुसार शासित हों।

(ख) क्षमता : राजनीतिक विकास की दूसरी विशेषता का संबंध राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता से है। राजनीतिक विकास में राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता वृद्धि की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं–

1. मांगों का समुचित समाधान करना।
2. विवादों को तर्कसंगत आधार पर सुलझाने की क्षमता।
3. शासन की प्रभावकारिता व समर्थता।
4. प्रशासकीय निपुणता तथा कार्यकुशलता।

(ग) विभिन्नीकरण : विभिन्नीकरण राजनीतिक विकास की तीसरी विशेषता है। इसमें निम्नलिखित विशेषताएं सम्मिलित हैं–

1. राजनीतिक संरचनाएं अलग–अलग कार्यों के लिए पृथक–पृथक होती हैं।
2. कार्यात्मक दृष्टि से कार्यों का विभाजन होता है।
3. प्रकार्यात्मक सुनिश्चितता होती है।
4. विभिन्न अंगों की जटिल प्रक्रियाओं का एकीकरण करना जिससे कि व्यवस्था का विघटन न हो।

आल्मण्ड और पावेल के अनुसार राजनीतिक विकास की विशेषताएं– आल्मण्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास की तीन विशेषताओं को प्रमुख माना है–

1. **भूमिका विभिन्नीकरण** : आल्मण्ड और पावेल यह मानते हैं कि संरचनाओं का विभिन्नीकरण इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि भूमिका का विभिन्नीकरण। अनेक देश, विशेषकर साम्यवादी और विकासशील देश ऐसे हैं जहां संरचनात्मक विभिन्नीकरण की विस्तृत व सुनिश्चित व्यवस्थाएं तो की जाती हैं, किंतु व्यवहार में एक ही संरचना के द्वारा अन्य संस्थाओं के कार्यों को भी किया जाता है। चीन में संरचनात्मक विभिन्नीकरण है किंतु भूमिका का विभिन्नीकरण नहीं पाया जाता है। अतः व्यवहार में भूमिका विभिन्नीकरण के लिए आवश्यक है कि कार्यपालिका का कार्य कार्यपालिका, न्यायपालिका का कार्य न्यायपालिका, व्यवस्थापिका का कार्य व्यवस्थापिका करे। इसको भूमिका विभिन्नीकरण माना जाएगा।
2. **उपव्यवस्था स्वायत्तता** : इसका अभिप्राय है शक्ति का एक जगह केंद्रीयकरण न हो बल्कि राजनीतिक व्यवस्था की उपव्यवस्थाओं को स्वायत्तता दी जाए। उन्हें कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाए। उपव्यवस्था स्वायत्तता वाली राजनीतिक व्यवस्था में सारी मांगें सीधे एक साथ केंद्र पर स्थित सरकार के पास नहीं आती हैं अपितु अन्य संरचनाओं तथा उपव्यवस्थाओं को स्वायत्तता प्राप्त होने के कारण उनके निर्णयों में रूपांतरण की व्यवस्था अनेक स्तरों पर हो जाती है। इससे राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि होती है।

टिप्पणी

3. **लौकिकीकरण** : लौकिकीकरण का संबंध लोगों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन आने से है। लोगों में धर्मनिरपेक्षता व समानता की प्रवृत्तियां व्यवहार में स्पष्ट होने लगती हैं। लोग परंपरागतता से हटकर तर्कसंगत व्यवहार करने लगते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर राजनीतिक विकास के लक्षणों को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत व्यक्त किया जा सकता है–

1. समानता के प्रति लोगों का रचनात्मक रवैया।
2. राजनीतिक व्यवस्था में नीतियों के निर्धारण और क्रियान्वित करने की क्षमता।
3. एकतायुक्त दायरे में राज–कार्यों का विभेदीकरण और विशेषीकरण।
4. लौकिकीकृत राजनीति।

राजनीतिक विकास के स्तर या अवस्थाएं

हंटिंगटन के अनुसार, राजनीतिक विकास की तीन अवस्थाएं मानी जाती हैं–

1. सत्ता की बुद्धिसंगतता का स्तर, जिसमें अनेक स्थानीय सत्ताओं के स्थान पर केंद्रीय सत्ता का निर्माण हो जाता है।
2. नये राजनीतिक कार्यों का विभिन्नीकरण और उनके लिए विशिष्ट संरचनाओं का विकास की दूसरी अवस्था है।
3. अभिवृद्ध सहभागिता का स्तर– यह राजनीतिक विकास का तीसरा स्तर है। इसके अंतर्गत सामाजिक समूह और समाज के लोग धीरे–धीरे केंद्रीय सत्ता में सम्मिलित होते हैं।

हंटिंगटन के अनुसार विकास की यह प्रक्रिया तभी संभव होती है जब यह तीनों स्तर क्रमिक रूप से उपलब्ध किए जाएं। उसका मानना है कि प्रथम के बाद दूसरा फिर तीसरा स्तर आ सकता है। तीनों का एक–दूसरे के ऊपर–नीचे या साथ–साथ प्रचालन घातक होता है। फिर उससे राजनीतिक विकास नहीं राजनीतिक पतन आता है।

आल्मण्ड के अनुसार राजनीतिक विकास की अवस्थाएं

आल्मण्ड ने राजनीतिक विकास की चार अवस्थाएं मानी हैं–

1. **राज्य निर्माण स्तर** : इसमें केंद्रीय सत्ता का निर्माण हो जाता है और विभिन्न समूहों का केंद्रीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र में एकीकरण हो जाता है।
2. **राष्ट्र निर्माण का स्तर** : इसमें नागरिकों में राष्ट्र के प्रति भक्ति व निष्ठा विकसित हो जाती है।
3. **सहभागिता का स्तर** : व्यक्ति एवं समूह राजनीतिक प्रक्रिया में व्यापक रूप से भागीदार हो जाते हैं।
4. **वितरण का स्तर** : इसके अंतर्गत सामाजिक जीवन के लाभों को पुनः निर्धारण की अनेक विधियों द्वारा सबकी पहुंच में लाना सम्मिलित होता है।

आल्मण्ड का यह मानना है कि विकासशील राज्यों में यही अनुक्रम रहना आवश्यक है।

टिप्पणी

आर्गेन्सकी के अनुसार राजनीतिक विकास के स्तर

आर्गेन्सकी ने अपनी पुस्तक 'Stages of Political Development' में राजनीतिक विकास को, राष्ट्रीय गंतव्यों को प्राप्त करने में मानवीय एवं भौतिक स्रोतों को उपयोग करने की सरकार की बढ़ती हुई कार्यक्षमता के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार राजनीतिक विकास के चार स्तंभ हैं–

1. **आदिम एकीकरण की राजनीति** : यह राजनीतिक विकास का पहला चरण है। यह राज्य की सुस्थिरता का चरण है जिसमें राज्य के चारों तत्व जनसंख्या, निश्चित भू–भाग, सरकार और संप्रभुता विद्यमान होते हैं।
2. **औद्योगीकरण की राजनीति** : राजनीतिक विकास का यह चरण औद्योगीकरण की प्रक्रियाओं तथा सामाजिक, राजनीतिक दृष्टि से ऐसे परिवर्तनों से संबंधित है जिसमें नये वर्ग निर्मित होते हैं। सहभागिता का विस्तार और राष्ट्रीय एकीकरण की स्थिति होती है। इसके तीन मॉडल हैं– बुर्जुआ मॉडल, स्टालिन का मॉडल तथा समन्वयी मॉडल।
3. **राष्ट्रीय लोककल्याण की राजनीति** : इसमें जनता को शोषण से मुक्त रखा जाता है और पूंजी साधनों को व्यापक स्तर पर जनता में वितरित किया जाता है।
4. **समृद्धि की राजनीति** : यह स्तर वैज्ञानिक प्रविधियों का है जिसमें परिष्कृत उपकरणों का उत्पादन होता है। प्रत्येक के लिए वस्तुओं की सामान्य उपलब्धि रहती है।

राजनीतिक विकास के साधन

राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में भाग लेने वाले मुख्य अभिकरण इस प्रकार हैं–

1. **राजनीतिक दल**– राजनीतिक दल राजनीतिक विकास के मुख्य साधन हैं। दलों के माध्यम से राजनीतिक नेतृत्व विकसित होता है। लोकतांत्रिक पद्धति में राजनीतिक दल मतदान का विस्तार कर जनसहभागिता को बढ़ावा देते हैं।
2. **क्रांतिकारी नेता**– राष्ट्र में उत्पन्न किसी संकट के कारण क्रांतिकारी नेता सत्ता में आते हैं। ये नेता अपने विशिष्ट गुणों के कारण राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने का प्रयास करते हैं।
3. **सेना**– जब विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक दल राजनीतिक विकास को नेतृत्व देने में सफल नहीं हो पाते हैं तो विकासशील देशों के समक्ष केवल यही विकल्प रह जाता है कि सेना समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले ले।
4. **आधुनिक नौकरशाही**– नौकरशाही परंपरागत समाज को आधुनिक परिवेश में लाने का प्रयत्न करती है। यह शासन को स्थिरता प्रदान करती है। नौकरशाही नीतियों को निर्धारित करने और नीतियों को लागू करने में सहयोग देती है।
5. **जनराजनीतिक सहभागिता**– राजनीतिक सहभागिता के विस्तार से भी राजनीतिक विकास होता है। जितनी अधिक जनसंख्या राजनीतिक प्रक्रिया में जितनी अधिक सीमा तक भाग लेती है उतना अधिक किसी राष्ट्र का राजनीतिक विकास होता है।

राजनीतिक विकास की समस्याएं

राजनीतिक विकास से संबंधित अनेक समस्याएं हैं– राष्ट्र निर्माण की समस्या, राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि की समस्या, समानता लाने की समस्या, सहभागिता संभव बनाने की समस्या, वैधता प्राप्त करने की समस्या आदि।

राजनीतिक विकास का स्तर जैसे–जैसे बढ़ता जाता है वैसे–वैसे इन समस्याओं का समाधान होने में सहायता मिलती है। विकासशील राज्यों में राजनीतिक विकास की समस्याएं इससे भिन्न होती हैं–

1. **राजनीतिक विकास के मॉडल के चयन की समस्या**– विकासशील राज्यों के सामने यह समस्या रहती है कि विकास के लिए वे पूंजीवादी देशों या साम्यवादी देशों के प्रतिमानों में किसका चयन करें।
2. **राजनीतिक स्थायित्व की समस्या**– विकासशील राज्य हिंसा, अराजकता, अव्यवस्था की समस्याओं से ग्रस्त हैं। सैनिक हस्तक्षेप इन देशों की शासन व्यवस्थाओं में देखने को मिलता है।
3. **राजनीतिक विकास के अभिकरणों के पर्याप्त विकसित होने की समस्या**– विकासशील राज्यों में राजनीतिक दल, दबाव समूहों के समुचित रूप से संगठित होने की समस्या रहती है।
4. **पर्याप्त जनसहभागिता का अभाव**– विकासशील राज्यों में जनसहभागिता का स्तर पश्चिमी राज्यों से कम है। अधिकांश जनता निर्गतों से तो संबंध रखती है किंतु निवेशों को विशेष प्रकार का बनाने के लिए सक्रिय नहीं रहती।

विकासशील राज्यों में इन समस्याओं को शिक्षा के प्रसार, राजनीतिक जागरूकता, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर समाज, राजनीतिक एकीकरण, जनसंचार के पर्याप्त विकसित साधन तथा राष्ट्रीयता की भावना का विकास करके ही कम किया जा सकता है।

तुलनात्मक राजनीति में उपयोगिता

आल्मण्ड व पावेल के अनुसार, तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक विकास उपागम की उपयोगिता इस प्रकार है–

1. आल्मण्ड और पावेल की मान्यता है कि विकास जिन बातों को संदर्भ में लेकर चलता है उससे राजनीतिक विकास के स्तरों का निश्चय और मापन हो सकता है, जिसकी सहायता से राजनीतिक व्यवस्थाओं का विवेचन, तुलना, स्पष्टीकरण और उनके बारे में भविष्यवाणी करने का आधार स्थापित हो जाता है।
2. राजनीतिक विकास की अवधारणा से राजनीतिक व्यवस्थाओं का उनके अतीत के आधार पर वर्गीकरण और तुलना करना संभव हो जाता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का वर्तमान उसके अतीत के प्रभाव से मुक्त नहीं होता। राजनीतिक व्यवस्थाओं के अतीत में यह संकेत मिलता है कि किसी व्यवस्था ने भूतकाल में समस्याओं का किस प्रकार सामना और समाधान किया। इसके ज्ञान से इस बात के संकेत मिलते हैं कि वह व्यवस्था भविष्य में आने वाली समस्याओं

टिप्पणी

का मुकाबला किस प्रकार करेगी। विभिन्नीकरण, लौकिकीकरण और उपव्यवस्था स्वायत्तता का स्तर राजनीतिक व्यवस्थाओं में भविष्य का सामना करने की क्षमताओं का संकेत देता है। इस आधार पर विकासशील व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करके, उसकी तुलना से उनके भविष्य के बारे में पता लगाया जा सकता है।

3. राजनीतिक विकास उपागम राजनीतिक व्यवस्थाओं की अर्थपूर्ण मानदंडों के आधार पर तुलना संभव बना देता है– विकास की माप, भूमिका, विभिन्नीकरण, लौकिकीकरण और उपव्यवस्था स्वायत्तता के संकेतकों के माप के आधार पर ही संभव है। उदाहरण के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं, विकास से संबंधित लक्षणों के आधार पर तुलना की जा सकती है–
   - उच्च स्वायत्तता वाली लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं।
   - सीमित स्वायत्तता वाली लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं।
   - निम्न स्वायत्तता वाली राजनीतिक व्यवस्थाएं।
4. राजनीतिक विकास उपागम राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में सामान्यीकरण करने में सहायता करता है– यह उपागम कई प्रकार से राजनीतिक व्यवस्थाओं का सामान्यीकरण करने में मदद करता है–
   - राजनीतिक विकास के संकेतकों का मापना संभव है।
   - राजनीतिक विकास के स्तरों का निर्धारण संभव है।
   - राजनीतिक विकास को अन्य विकासों से संबंधित कर सकते हैं।
   - राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना की जा सकती है।

इस प्रकार राजनीतिक विकास दृष्टिकोण से सामान्यीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

रिग्स के अनुसार राजनीतिक विकास की अवधारणा से व्यवहारवादी अध्ययन दृष्टिकोण और क्षेत्रीय अध्ययन के दृष्टिकोणों में तालमेल बिठाना संभव हो जाता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'ऑस्पैक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल डेवलपमेंट' किस विचारक की रचना है?
   (क) आल्मण्ड और पावेल (ख) हंटिंगटन
   (ग) ल्यूसियन पाई (घ) लासवेल
2. आल्मण्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास की विशेषताएं बताई हैं–
   (क) भूमिका विभिन्नीकरण (ख) उपव्यवस्था स्वायत्तता
   (ग) लौकिकीकरण (घ) उपरोक्त सभी

3. समानता, क्षमता और विभिन्नीकरण, राजनीतिक विकास ये विशेषताएं किसके द्वारा दी गई हैं–

(क) एडवर्ड शिल्स द्वारा (ख) पाल. ए. बारान द्वारा

(ग) ल्यूसियन पाई द्वारा (घ) इनमें से कोई नहीं

4. आर्गेन्सकी ने राजनीतिक विकास के स्तर बताए हैं–

(क) दो (ख) तीन

(ग) चार (घ) पांच

3.3 उपनिवेशवाद की उत्पत्ति

उपनिवेशवाद का अभिप्राय है, किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने हितों को साधने के लिए किसी निर्बल किंतु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों का शक्ति के बल पर उपभोग करना। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है, उसे शासन में कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता। यह ऐसी स्थिति या व्यवस्था है जिसके अंतर्गत किसी शक्तिशाली राष्ट्र के लोग अपने प्रभुसत्ताधारी की अनुमति, सहायता और समर्थन से दूसरे देश में जाकर बस जाते हैं, वहां अपना प्रभुत्व और प्रशासन स्थापित कर लेते हैं। अपनी भाषा, रीति–रिवाज और अपने मूल देश के प्रति निष्ठा कायम रखते हुए अपने अधीन देश के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों को अपने मूल देश की उन्नति और समृद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं।

आर्गेन्सकी के अनुसार, "उन सभी देशों को हम उपनिवेश कहेंगे जो एक विदेशी सत्ता द्वारा शासित हैं तथा जिसके निवासियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। यह एक श्रेष्ठ राज्य का अपने निम्न राज्य के साथ संबंध है।"

हाब्सन के अनुसार– "उपनिवेशवाद अपने श्रेष्ठ रूप में राष्ट्रीयता का स्वाभाविक प्रसार है और सफल उपनिवेशवाद का मापदंड ही यही है कि उपनिवेशवादी राज्य अपनी सभ्यता के मूल्यों को नये प्रदेशों के स्वाभाविक सामाजिक परिवेश में कहां तक स्थापित कर सका है।"

उपनिवेशवाद के मूल तत्व तथा विशेषताएं

उपनिवेशवाद की विशेषताओं को हम निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देख सकते हैं–

1. उपनिवेशवाद का उद्देश्य होता है अन्य देशों को अपने अधीन करके उनका शोषण करना।
2. उपनिवेशवाद का उद्देश्य मुख्यतया आर्थिक शोषण होता है परंतु कभी–कभी सैनिक व राजनीतिक शोषण भी हो सकता है।
3. साम्राज्यवादी शक्तियां अपने अधीनस्थ राष्ट्र के हितों की उपेक्षा करते हुए अपने हितों को प्रधानता देती हैं। जब भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था तो भारत सरकार भारतीय हितों की उपेक्षा करते हुए इंग्लैंड के हितों को अधिक महत्व देती थी।

टिप्पणी

4. उपनिवेशवाद का संबंध राष्ट्र की विदेश नीति से है।
5. विविध राष्ट्रीय इकाइयों पर एक ही विदेशी राष्ट्र का आधिपत्य हो सकता है।
6. उपनिवेशवावाद स्थापित करने वाले देश के पास अधीन राज्यों की अपेक्षा तकनीकी दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के अस्त्र–शस्त्र, रणनीति कौशल, अधिक पूंजी और उत्पादन के उन्नत साधन होते हैं।
7. मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, जिन राज्यों के पास शक्ति का बाहुल्य है वे प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। ऐसे राज्यों की नीति होगी परिवर्तनकारी। किसी परिवर्तनवादी राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा जब अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर दूसरों का शोषण करने लगती है तब वह राज्य उपनिवेशवाद से आगे बढ़कर साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। यथास्थितिवादी राज्य इस बात का प्रयत्न करते हैं कि मौजूदा शक्ति संतुलन में कोई परिवर्तन न हो और इस संतुलन में जो भी स्थिति हो वह बराबर बनी रहे परंतु परिवर्तनवादी राज्य मौजूदा शक्ति संतुलन को पलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद में अंतर

सामान्यतः साम्राज्यवाद ऐसी स्थिति अथवा नीति है जहां साम्राज्यवाद के अंतर्गत अधीन बनाए गए देश के ऊपर मूल देश की प्रभुसत्ता स्थापित कर दी जाती है। इसके अंतर्गत कोई शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे देश के भू–भाग पर विजय प्राप्त करके उसे अपने क्षेत्र के साथ मिला लेता है और उस पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करके उसका शोषण करता है।

उपनिवेशवाद के अंतर्गत उपनिवेश बनाए गए देश के प्रशासन को मूल देश की प्रशासन व्यवस्था से अलग रखा जाता है।

हाब्सन ने उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद को पर्यायवाची माना है।

इ. एफ. पैनरोज ने अपनी पुस्तक 'अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में क्रांति' में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद में निम्न अंतर बताए हैं–

1. साम्राज्यवाद में नये भू–प्रदेश और क्षेत्रों का समामेलन एकदम स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है तथा इन अधीन प्रदेशों पर साम्राज्यवादी देश की विधि व्यवस्था तथा शासन प्रणाली एकदम आरोपित कर दी जाती है। जबकि उपनिवेशवाद में अधीन प्रदेशों की विधि और शासन व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता और मूल विधि व्यवस्था एवं शासन प्रणाली की कई विशेषताएं स्वीकार कर ली जाती हैं।
2. साम्राज्यवाद में नये प्रदेशों को पूर्ण आत्मसात करने का प्रयत्न होता है। इन क्षेत्रों के निवासियों को जबरदस्ती वही सभ्यता, संस्कृति, जीवन मूल्य, राजनीतिक संस्थाएं, आर्थिक नीतियां अपनाने को बाध्य किया जाता है जो साम्राज्यवादी देश की होती हैं, जबकि उपनिवेशवाद में मूल निवासियों की सांस्कृतिक तथा सामाजिक विशेषताएं बनी रहती हैं।
3. साम्राज्यवाद में तो पूर्ण विलयन हो जाता है, जबकि उपनिवेशवाद में राष्ट्रीयता के विकास के अवसर अधिक होते हैं।

टिप्पणी

उपनिवेशवाद का उद्‌भव एवं कारण

16वीं शताब्दी से आधुनिक उपनिवेशवाद का प्रारंभ माना जाता है। यह मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से प्रारंभ हुआ। इसका नारा था– "साम्राज्यवाद का झंडा व्यापार का अनुगमन करता है या व्यापार झंडे का।" औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के व्यापारियों ने पिछड़े देशों में साम्राज्यों की स्थापना की। यूरोप की अनेक कंपनियां एशिया और अफ्रीका के देशों में कार्य करने लगीं। भारत के साथ व्यापार के लिए अंग्रेजों ने 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी स्थापित की। इसी प्रकार कंपनियां डचों और फ्रेंचों ने भी स्थापित कीं। इनसे भी पहले स्पेन और पुर्तगाल ने अमेरिका महाद्वीप और पूर्वी देशों में अपने व्यापारिक अड्डे व उपनिवेश बनाए। सन 1880 तक अफ्रीका महाद्वीप का अधिकांश भाग स्वतंत्र था, उसके बाद इसके विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य का अंग बनाने के लिए यूरोप के देशों में प्रबल होड़ हुई। इस समय सबसे बड़ा साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन था।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर राष्ट्रसंघ की स्थापना होने पर युद्ध में पराजित जर्मनी, टर्की आदि के विभिन्न उपनिवेश तथा प्रदेश मित्र राष्ट्रों ने मैंडेट के रूप में प्राप्त किए। इस व्यवस्था में राष्ट्रसंघ की ओर से इन प्रदेशों का शासन ब्रिटेन, फ्रांस आदि को इस दृष्टि से दिया गया था कि वे इन्हें स्वशासन करने की दृष्टि से योग्य बनाएं और इनके शासन की रिपोर्ट राष्ट्रसंघ को प्रतिवर्ष देते रहें।

औद्योगिक क्रांति ने राष्ट्रीय स्पर्धा की भावना को तीव्र किया। यूरोपीय देशों को कच्चा माल चाहिए था और तैयार माल बेचने के लिए बाजार चाहिए थे। इस प्रकार साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद ने आर्थिक स्वरूप ग्रहण किया। यूरोप के व्यापारी धन–लाभ के लिए पूंजी लगाने लगे जिससे उन्हें अधिक लाभ होने लगा। उपनिवेशों में व्यापार तथा विनियोग की सुविधा के साथ–साथ राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण भी स्थापित किया गया। इस प्रकार पूंजीवाद से उपनिवेशवाद की स्थापना हुई। बाद में पूंजीवाद के साथ–साथ उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का संबंध राष्ट्रीय गौरव और सैनिकवाद से भी जुड़ गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद का बड़ी तेजी से पतन हुआ है क्योंकि प्रधान साम्राज्यवादी देशों–इंग्लैंड तथा फ्रांस की शक्ति दूसरे विश्वयुद्ध में इतनी कम हो गई कि वे अब सैनिक बल से उपनिवेशों पर अधिकार रखने में असमर्थ हो गए।

उपनिवेशवाद के विकास में सहायक तत्व तथा प्रेरक कारण

उपनिवेशवाद के निम्नलिखित कारण बताए गए हैं–

1. **आर्थिक कारण** : वर्तमान उपनिवेशवाद की पहली प्रधान प्रेरणा व्यापार तथा आर्थिक लाभ है। यदि औद्योगिक देशों का अन्य देशों पर अधिकार रहे तो उन्हें वहां से कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने में सुविधा रहती है। उपनिवेश में पूंजी लगाई जा सकती है और आर्थिक लाभ कमाया जा सकता है। डॉ. आशीर्वादम के अनुसार– "उपनिवेशों का मूल्य कच्चे माल के उत्पादकों की अपेक्षा तैयार माल के बाजारों के रूप में अधिक होता है।"

टिप्पणी

18वीं शताब्दी में इंग्लैंड तथा यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रांति हुई। मशीनों से कम समय में सस्ता माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होने लगा। इसके लिए कच्चे माल की तथा तैयार माल को बेचने के लिए मंडियों की आवश्यकता थी। इंग्लैंड में मैनचेस्टर और लंकाशायर की सूती कपड़े की मिलों को वस्त्र बनाने के लिए कपास भारत तथा मिस्र से मिल सकती थी और इस कपड़े की खपत भी इन देशों में की जा सकती थी। अतः पश्चिमी देशों को औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न परिस्थितियों में उपनिवेशवाद की बड़ी उपयोगिता प्रतीत हुई, क्योंकि उपनिवेश न केवल आवश्यक कच्चे माल की प्राप्ति और तैयार माल की बिक्री के स्रोत थे, अपितु वे इंग्लैंड और यूरोपीय देशों के पूंजीपतियों द्वारा कमाई जाने वाली पूंजी को लाभदायक रूप से लगाने के लिए भी स्वर्ण अवसर प्रदान कर रहे थे।

2. **धार्मिक कारण** : 17वीं शताब्दी में धर्म–प्रचार उपनिवेशवाद का महत्वपूर्ण कारण था। उस समय फ्रांस द्वारा स्याम का हस्तगत किया जाना अधिकतर जेसुइट धर्म–प्रचारकों का काम था। लिविंग्स्टोन ने अफ्रीका में ईसाई धर्म के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य का रास्ता खोल दिया। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति कूलिज का कहना था कि जो सेनाएं अमेरिका बाहर भेजता है वे तलवार के बजाय क्रॉस से लैस होकर जाती हैं।

3. **मानवीय कारण** : गोरी जातियों की यह मान्यता थी कि भगवान ने उन्हें पवित्र नैतिक कर्तव्य तथा दायित्व सौंपा है कि वे अपने धर्म तथा सभ्यता के वरदानों को पिछड़ी जातियों तक पहुंचाएं। श्वेत जातियों का यह कर्तव्य था कि वे अंधकार में डूबी एशिया–अफ्रीका की काली–पीली जातियों का उद्धार करें। इसे 'श्वेत मनुष्य का कर्तव्य भार' (Whiteman's Burden) कहा जाता है। ईसाई प्रचारक पिछड़ी हुई जातियों में सेवा व धर्म प्रचार के नाम पर पहले उन्हें स्वावलंबी बनाते हैं। वे अपना नैतिक कर्तव्य बताते हुए कहते हैं कि सुसभ्य जातियों का पिछड़ी जातियों की नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति करना कर्तव्य है। साम्राज्यवाद के प्रसार की खिल्ली उड़ाते हुए बर्नार्ड शॉ ने 1896 में अपने नाटक 'The Man of Destiny' में लिखा था कि– "जब साम्राज्यवादी अंग्रेज को मैनचेस्टर के माल की बिक्री के लिए एक नई मंडी की जरूरत होती है तो वह आदिम जातियों में बाईबल के संदेश का प्रचार करने के लिए एक मिशनरी को भेज देता है। जब ये जातियां इसकी हत्या करती हैं तब वह इनके साथ लड़कर उन्हें जीत लेता है और इस नई मंडी को भगवान के प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लेता है।"

4. **राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ाने की अभिलाषा** : उपनिवेश विभिन्न राष्ट्रों के लिए गौरव का कारण समझे जाते हैं। अंग्रेजों को इस बात का गर्व अनुभव होता था कि उनका साम्राज्य ऐसा विश्वव्यापी है कि इसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता है। जर्मनी और इटली उपनिवेश नहीं होना अपने लिए गौरवूपर्ण नहीं समझते थे। उन्होंने अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिए उपनिवेश प्राप्त करने की बड़ी चेष्टा की।

5. **राष्ट्रीय सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा के लिए सामरिक महत्व के स्थान प्राप्त करना** : साम्राज्यवादी देश अपने अधीनस्थ प्रदेशों और उपनिवेशों से अपनी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न केवल तेल, रबड़ तथा अन्य आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करते हैं, अपितु उपनिवेश लड़ने के लिए आवश्यक सैनिकों का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस को अपने उपनिवेशों से 5 लाख सैनिक और 2 लाख मजदूर प्राप्त हुए थे।
6. **अतिरिक्त जनसंख्या** : कई साम्राज्यवादी देशों ने अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए निवास योग्य भूमि प्राप्त करने का कारण भी दिया है। विशेषकर जापान तथा इटली ने इस तर्क का बहुत अधिक उपयोग किया था। मुसोलिनी ने घोषणा की थी कि, "इटली की अतिरिक्त जनसंख्या को बाहर बसने का अधिकार होना चाहिए।" 1925 से 1933 तक जापान अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को चीन के विभिन्न प्रदेशों में बसाने के लिए प्रयास करता रहा।
7. **व्यक्तिगत आर्थिक लाभ** : उपनिवेशवाद के विकास का एक कारण यह भी रहा है कि इससे साम्राज्य बनाने वाले देशों के व्यक्तियों को वैयक्तिक रूप से बड़ा लाभ होता है और इसलिए वे उसका प्रबल समर्थन करते हैं। पराधीन देशों में उन्हें बड़ी–बड़ी नौकरियां मिल सकती हैं, कल–कारखाने खोलने का मौका मिलता है तथा अनेक प्रकार की आमदनी के जरिए खुल जाते हैं। हॉब्सन के अनुसार, पूंजीवादी देशों में नौकरशाही तथा शिक्षित वर्ग ने आक्रमण तथा प्रसारवादी नीति को अच्छा समझा क्योंकि इस नीति के फलस्वरूप प्राप्त किए गए उपनिवेश में उनको तथा उनकी संतानों को पद, धन तथा प्रभुत्व का आश्वासन मिलता था।
8. **अतिरिक्त पूंजी** : उद्योग–धंधों तथा व्यापार में वृद्धि के कारण साम्राज्यवादी देशों के पास काफी पूंजी एकत्र हो जाती थी। इस पूंजी को चालू रखने के लिए तथा उनसे अधिक पूंजी कमाने के लिए यह आवश्यक था कि इस पूंजी को दूसरे देशों में उत्पादन के लिए लगाया जाए। पराधीन देशों में निजी पूंजी को लगाकर साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों के आर्थिक जीवन पर पूर्ण अधिकार कर लेते थे। भारत में चाय, जूट तथा ईरान में पेट्रोलियम के व्यवसाय में काफी ब्रिटिश पूंजी अभी भी लगी हुई है। अमेरिका की डॉलर कूटनीति (Dollar Diplomacy) इसी नीति का प्रतिफल है।

उपनिवेशवाद संबंधी सिद्धांत

आधुनिक युग में उपनिवेशवाद ने विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला है। उपनिवेशवाद के संबंध में कई सिद्धांत अस्तित्व में आए हैं।

• **उपनिवेशवाद का मार्क्सवादी सिद्धांत**– उपनिवेशवाद संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत इस बौद्धिक विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक राजनीतिक घटना आर्थिक तथ्यों का दर्पण मात्र है, जो कि वास्तव में मार्क्सवादी विचारधारा का आधार ही है। उपनिवेशवाद रूपी राजनीतिक घटना उस आर्थिक व्यवस्था की उपज है जिसे पूंजीवाद कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, पूंजीवादी समाज अपनी परिधि के भीतर अपनी उपज

के अनुपात में व्यवसाय का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त नहीं कर पाता तथा अपनी पूंजी को फिर उद्योग में लाने का अवसर नहीं दे पाता। इसी कारण उनमें अन्य गैर–पूंजीवादी तथा अंत में पूंजीवादी क्षेत्रों में दासता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। इससे उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज की खपत के लिए पूंजीवादी देशों को भी अपना बाजार बनाना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी स्वयं की अतिरिक्त पूंजी को नए उद्योग–धंधों में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

मार्क्स और एंजेल्स का विचार था कि उपनिवेशों पर नियंत्रण करना न केवल बाजारों और कच्चे माल के स्रोतों को हथियाने के लिए जरूरी था, बल्कि प्रतिद्वंद्वी औद्योगिक देशों से होड़ में आगे निकलने के लिए भी आवश्यक था। उपनिवेशवाद संबंधी मार्क्सवादी विचारों को आगे विकसित करने का श्रेय रोजा लक्जेमबर्ग और लेनिन को जाता है।

लेनिन के मतानुसार– "साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम विकसित और अंतिम दशा है।" उसका यह कहना है कि पूंजीवाद का अधिकाधिक विकास होने पर क्रमशः एक–दूसरे के बाद आने वाली कार्य कारण का संबंध रखने वाली पांच दशाओं में से गुजरते हुए पूंजीवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण करता है।

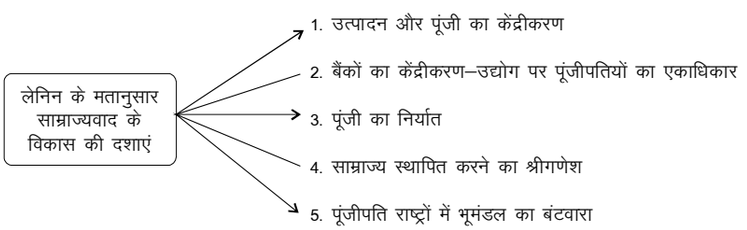

लेनिन ने पूंजीवाद के विकास के तीन परिणाम बताए हैं–

1. पहला परिणाम साम्राज्यवाद का विकास है। पूंजीपति अपने देश से बाहर अन्य जिन देशों में अपनी पूंजी लगाते हैं वहां मुनाफा सुरक्षित रखने के लिए कच्चा माल पाने और अपने तैयार माल की खपत के लिए वे इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि वे देश उपनिवेश या वशवर्ती प्रदेश बनकर उनके राजनीतिक प्रभुत्व में आ जाएं। अंग्रेजों ने भारत में ऐसा ही किया था।
2. दूसरे देशों में पूंजी लगाने से पूंजीवादी देशों में साम्राज्य एवं उपनिवेश पाने के लिए प्रबल होड़ हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबंदियां होने लगती हैं। विभिन्न देश अपने माल के लिए मंडियां सुरक्षित रखने और उपनिवेश रखने के लिए युद्ध आरंभ कर देते हैं।
3. तीसरा परिणाम पूंजीवाद के विध्वंस तथा साम्यवादी क्रांति के पथ का प्रशस्त होना है।

उपनिवेशवाद की मार्क्सवादी व्याख्या का आलोचनात्मक मूल्यांकन

निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस सिद्धांत की आलोचना की गई है–

1. **युद्धों का आर्थिक कारणों से न होना**– लेनिन ने यह मान लिया था कि साम्राज्यवाद ही सब आधुनिक युद्धों का मूल कारण है। लेकिन कुछ विद्वानों ने वर्तमान समय में होने वाले युद्धों के कारणों का गंभीर अध्ययन करके यह

निष्कर्ष निकाला है कि युद्ध आर्थिक कारणों से नहीं अपितु राजनीतिक कारणों तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से उत्पन्न होते हैं। उपनिवेशों से साम्राज्यवादी देशों को प्राप्त होने वाले लाभों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 1948 में मॉरगेन्थाऊ ने अपनी रचनाओं में इस बात का खंडन किया था कि युद्ध आर्थिक कारणों से होते हैं। दोनों विश्व महायुद्ध राजनीतिक युद्ध थे जिनका लक्ष्य यदि संपूर्ण संसार का नहीं तो यूरोप का आधिपत्य था।

2. **पूंजीवाद का साम्राज्यवाद से घनिष्ठ संबंध नहीं है**– रूस पूंजीवादी देश नहीं था फिर भी उसने द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व फिनलैंड, लैटविया, लिथुआनिया, इस्टोनिया आदि प्रदेशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाया। एडम स्मिथ, स्पेंसर तथा कार्ल कौटस्की ने यह प्रतिपादित किया है कि पूंजीवाद अंतर्राष्ट्रीय सौहार्द्र और शांति को बढ़ाने वाला है।

3. **पूंजीवाद और उपनिवेशों का कोई संबंध नहीं**– लेनिन के सिद्धांत में यह बात मान ली गयी है कि पूंजीवाद के विकास के लिए उपनिवेश आवश्यक है क्योंकि साम्राज्यवादी देश इसमें अपनी पूंजी लगाते हैं, किंतु विभिन्न देशों में पूंजी लगाने के आंकड़ों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने लेनिन की इस धारणा का खंडन किया है कि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों में पूंजी लगाते हैं। 1914 तक फ्रांस और जर्मनी की विदेशों में लगायी जाने वाली पूंजी का आधा भाग इसके उपनिवेशों में नहीं, अपितु स्वतंत्र यूरोपियन राज्यों में लगाया गया था। लेनिन का यह मत था कि जिन देशों के जितने अधिक उपनिवेश होते हैं, वे पूंजी का उतनी ही अधिक मात्रा में निर्माण करते हैं, किंतु यह बात सत्य नहीं है। स्विट्जरलैंड पूंजी का निर्यात करने में अग्रणी देश है, किंतु इतनी अधिक पूंजी का निर्यात करने पर भी स्विट्जरलैंड के पास कोई साम्राज्य नहीं है।

4. **समृद्धि का कारण उपनिवेशवासियों का शोषण नहीं है**– लेनिन की यह मान्यता थी कि इंग्लैंड, फ्रांस आदि साम्राज्य रखने वाले देशों के मजदूरों की समृद्धि का कारण उनके साम्राज्य में विद्यमान उपनिवेशवासियों का शोषण है, किंतु यह बात सत्य नहीं है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और स्विट्जरलैंड के पास कोई साम्राज्य नहीं है, फिर भी इनके निवासी विशाल साम्राज्य रखने वाले बेल्जियम तथा फ्रांस के मजदूरों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं।

5. **पूंजी का निर्यात गरीब देशों में नहीं होता है**– लेनिन के मतानुसार पूंजी का निर्यात उन्हीं देशों में होता है जहां गरीबी, बेकारी, भुखमरी का प्राधान्य होता है, किंतु यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड में चिरकाल तक इनके आर्थिक विकास के लिए दूसरे देशों की पूंजी लगती रही, फिर भी ये संसार के समृद्धतम देश हैं। इनमें निर्धनता और बेकारी की मात्रा बहुत कम है।

• **उपनिवेशवाद का उदारवादी सिद्धांत**– उदारवादी विचारधारा के अनुसार, जिसके प्रमुख प्रतिनिधि जे.ए. हॉब्सन हैं, साम्राज्यवाद पूंजीवाद का फल न होकर वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था के कुछ असंतुलनों का परिणाम है। मार्क्सवाद की भांति ही उदारवादी विचारधारा भी साम्राज्यवाद की जड़, अतिरिक्त उत्पादन व पूंजी में मानती

है, जिसके लिए विदेशी बाजारों को ढूंढ़ना अनिवार्य हो जाता है। फिर भी हॉब्सन और उसकी विचारधारा के अनुसार यह अतिरिक्त उपज खरीदने की शक्ति के गलत संतुलन का परिणाम मात्र है। उसका हल घरेलू बाजार के विकास में व्याप्त है जो कि खरीदने की शक्ति में वृद्धि तथा आवश्यकता से अधिक बचत की समाप्ति आदि से आर्थिक सुधारों द्वारा हासिल किया जा सकता है। साम्राज्यवाद के प्रति एक घरेलू विकल्प में विश्वास ही उदारवाद की मार्क्सवाद से पृथकता स्थापित करता है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. "उन सभी क्षेत्रों को हम उपनिवेश कहेंगे जो एक विदेशी सत्ता द्वारा शासित हैं तथा जिसके निवासियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं।" उपरोक्त परिभाषा दी है–

   (क) हॉब्सन (ख) आर्गेन्सकी

   (ग) मॉर्गेन्थाऊ (घ) लेनिन

6. "अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में क्रांति" पुस्तक के लेखक हैं–

   (क) ई.एफ. पैनरोज (ख) रोजा लक्जमबर्ग

   (ग) मार्क्स (घ) एंजेल्स

7. "साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम विकसित और अंतिम दशा है।" यह कथन है–

   (क) हंटिंगटन (ख) आर्गेन्सकी

   (ग) लेनिन (घ) मार्क्स

3.4 उपनिवेशवाद के प्रकार

आर्गेन्सकी ने उपनिवेशों का वर्गीकरण मुख्यतया दो प्रकार से किया है–

1. बिंदु उपनिवेश
2. क्षेत्रीय उपनिवेश।

1. बिंदु उपनिवेश– बिंदु उपनिवेश अत्यंत छोटे भूखंड होते हैं, जैसे महासागरों में नन्हे–नन्हे द्वीप अथवा किसी विशाल महाद्वीप का अत्यंत लघु प्रदेश। इन्हें बिंदु उपनिवेश इसलिए कहा जाता है क्योंकि विश्व मानचित्र में ये केवल एक बिंदु मात्र ही होते हैं। इन बिंदु उपनिवेशों का नियंत्रण और उपयोग एक व्यापारिक केंद्र अथवा अपराजित देशों के मध्य में एक पड़ाव के रूप में अथवा समुद्री, व्यापारिक एवं सामरिक महत्व के मार्गों पर ईंधन भरने के लिए किया जाता है। जिब्राल्टर, सिंगापुर, हांगकांग, पनामा नहर क्षेत्र बिंदु उपनिवेश के उदाहरण हैं।

2. क्षेत्रीय उपनिवेश– क्षेत्रीय उपनिवेश वे विशाल भू–प्रदेश हैं जिन पर आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से नियंत्रण किया जाता है। ये दो प्रकार के हैं– बस्ती उपनिवेश तथा शोषण क्षेत्र उपनिवेश। बस्ती उपनिवेश वे उपनिवेश हैं जहां की जलवायु और ऋतु

टिप्पणी

यूरोपियन लोगों के अनुकूल है, और वे बड़ी संख्या में वहां निवास करते हैं। शोषण क्षेत्र उपनिवेश वे क्षेत्र हैं जिनका प्रयोग केवल शोषण के लिए किया जाता है तथा इन उपनिवेशों में यूरोपियनों की संख्या बहुत कम होती है तथा वे मुख्यतः शासक वर्ग, व्यापारी वर्ग, पादरी वर्ग एवं सैनिक वर्ग तक ही सीमित होते हैं।

उपरोक्त के अतिरिक्त उपनिवेशवाद के निम्न प्रकार हैं–

1. **उपनिवेशिक उपनिवेशवाद** (Settler Colonialism): उपनिवेशिक उपनिवेशवाद में बड़े स्तर पर आप्रवासन शामिल है, जो अकसर धार्मिक, राजनीतिक या आर्थिक कारणों से प्रेरित होता है। इसका उद्देश्य बड़े स्तर पर किसी भी मौजूदा आबादी को बदलना है। यहां, बड़ी संख्या में साम्राज्यवादी देशों से लोग जमीन पर रहने और खेती करने के उद्देश्य से उपनिवेश में निवास करते हैं। आस्ट्रेलिया, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि शक्तियां इसी के उदाहरण हैं।
2. **शोषण उपनिवेशवाद** (Exploitation Colonialism): शोषण उपनिवेशवाद में वे उपनिवेशवादी क्षेत्र शामिल होते हैं जहां प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया जाता है और उस क्षेत्र के मानवीय श्रम का शोषण मातृदेश के लाभ के लिए किया जाता है। इस श्रेणी में व्यापारिक पद के साथ–साथ उपनिवेशवादी राजनीतिक और आर्थिक प्रशासन का गठन भी करते हैं। अटलांटिक पार (Trans-Antlantic) दासों के व्यापार के उन्मूलन के अंत से पहले, जब स्वदेशी श्रम अनुपलब्ध था, दासों को पहले पुर्तगाली द्वारा और बाद में स्पेनिश, डच, फ्रेंच और ब्रिटिश द्वारा अकसर अमेरिका में आयात किया जाता था।
3. **सरोगेट उपनिवेशवाद** (Surrogate Colonialism): यह अवधारणा मानव विज्ञानी स्कॉट एट्रान ने अपने निबंध 'फिलिस्तीन 1917–1939 का सरोगेट औपनिवेशीकरण' के अंतर्गत दी है। समाजशास्त्री रैन ग्रीनस्टीन का दावा है कि फिलिस्तीन में जायोनी बस्ती और दक्षिण अफ्रीका में श्वेत बस्ती दोनों ही सरोगेट उपनिवेश के उदाहरण हैं, क्योंकि दोनों में अधिकांश निवासी उस समय के प्रमुख उपनिवेशवादी सत्ता के रैंक से नहीं आए थे। इसके अंतर्गत एक विदेशी शक्ति एक स्वदेशी लोगों के कब्जे वाली भूमि पर शासन के लिए दूसरे समूह के साथ समझौते के द्वारा प्रोत्साहित करती है।
4. **आंतरिक उपनिवेशवाद** (Internal Colonialism): आंतरिक उपनिवेशवाद एक राज्य के क्षेत्रों के बीच असमान संरचनात्मक शक्ति की धारणा है। शोषण का स्रोत राज्य के भीतर से आता है। प्रभुत्वशाली वर्ग के द्वारा कमजोर वर्गों का शोषण किया जाता है। यह उपनिवेशवाद का वह रूप है जिसमें किसी देश के लोगों का शोषण तो किया जाता है, परंतु इसमें किसी विदेशी शक्ति का हाथ नहीं होता, बल्कि देश के लोग ही प्रभुत्वशाली और पराधीन वर्गों या संजातीय समूहों में बंट जाते हैं। साधारणतः प्रभुत्वशाली समूह आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक शक्ति, उन्नति के अवसरों तथा अन्य लाभों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेता है, और वह अन्य समूहों को अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाकर इन सब लाभों से वंचित रखता है। अतः आंतरिक उपनिवेशवाद देश के भीतर विभिन्न समूहों में तनाव और संघर्ष को जन्म देता है।

टिप्पणी

उपनिवेशवाद के प्रभाव

उपनिवेशवाद के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभाव होते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है–

1. सकारात्मक प्रभाव

उपनिवेशवाद के सकारात्मक प्रभाव निम्न हैं–

- **बेहतर स्वास्थ्य और शिक्षा** : हालांकि अधिकांश उपनिवेशों में आधे से भी कम बच्चे स्कूल गए थे, लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के कई नेताओं ने औपनिवेशिक सरकार और मिशनरी स्कूलों में शिक्षा के बाद की सरकारों का नेतृत्व किया।
- **अविकसित देशों का कल्याण** : वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान को अविकसित देशों में पहुंचाना, असभ्य और बर्बर को सभ्य बनाना, अपने श्रेष्ठ ज्ञान से अविकसित देशों की भूसंपदा को प्रकाश में लाना आदि साम्राज्यवाद के लाभ हैं। साम्राज्यवाद के समर्थन में यह कहा जाता है कि उसने आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई अफ्रीका तथा एशिया की जातियों को विज्ञान एवं आधुनिक प्रौद्योगिकी के साधनों से समृद्ध बनाया।
- **राजनीतिक एकता के सूत्र में बांधना** : उपनिवेशवाद ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के पराधीन देशों में राज्य निर्माण की प्रक्रिया को शुरू किया और राजनीतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बांधा।
- **राष्ट्रीय एकता की भावना को जाग्रत करना** : उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए पराधीन देशों में राष्ट्रीय आंदोलन हुए। आंदोलनों के नेताओं से लेकर सामान्य वर्ग तक सभी देश के लिए प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। राष्ट्र–निर्माण की भावना ने ही तीसरे विश्व के देशों में राज्य–निर्माण को प्रोत्साहित किया।

2. नकारात्मक प्रभाव

उपनिवेशवाद के नकारात्मक प्रभाव निम्न हैं–

- **सांस्कृतिक और नैतिक पतन का कारण** : उपनिवेशवाद पराधीन देश के नैतिक और सांस्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी है। उपनिवेशवादी देश अपनी सभ्यता और संस्कृति को पराधीन जातियों पर लादने लगते हैं। फलस्वरूप पराधीन जातियों की निजी सभ्यता और संस्कृति नष्ट हो जाती है। अतः नैतिकता के आधार पर कभी भी उपनिवेशवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।
- **युद्ध और सैन्यवाद को प्रश्रय** : उपनिवेशवाद युद्ध और सैन्यवाद को प्रश्रय देता है। युद्ध से ही उपनिवेशों का निर्माण होता है अर्थात उपनिवेशों के निर्माण में युद्ध को भी अपनाया जाता है। उपनिवेश के बाद भी सेना द्वारा उस पर आधिपत्य रखा जाता है।

पहले तो यूरोपियन जातियां अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए एशिया, अफ्रीका की जातियों से लड़ीं। शुरू में, उपनिवेश निर्माण के लिए इतना खून बहाना पड़ा कि एक आधुनिक लेखक के शब्दों में, उपनिवेशवाद का पथ रक्तरंजित था। इसके बाद विजेता देशों में भी अपने उपनिवेशों को बढ़ाने और बनाए रखने के लिए भी आपस में युद्ध होते थे। उपनिवेशवाद के कारण हुए युद्धों के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं– 1892 में अमेरिका का स्पेन के विरुद्ध युद्ध, 1899–1902 का ग्रेट ब्रिटेन–बोअर युद्ध, 1904–1905 का रूस–जापान युद्ध, 1911–12 का इटली–तुर्की युद्ध। उपनिवेशवाद बहुत समय तक विश्वशांति के लिए खतरा बना रहा है।

- **शोषण व पराधीनता की स्थिति** : उपनिवेशवाद के कारण कतिपय देशों को गुलाम बनाया जाता है। वहां के निवासियों पर अमानवीय अत्याचार किए जाते हैं और उनका शोषण होता है। इस प्रकार, उपनिवेशवाद मानवता के लिए घातक है।
- **अधीनस्थ देशों का आर्थिक शोषण** : उपनिवेशवादी देशों का उपनिवेश बनाने का प्रधान उद्देश्य अपने अधीनस्थ प्रदेशों का शोषण तथा उनकी संपत्ति का लाभ उठाना है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले तक ब्रिटेन की समृद्धि का प्रधान कारण उसके भारत जैसे विजित प्रदेश थे। उनका भारत में शासन करने का प्रधान ध्येय भारत की संपत्ति को लूटना था। पार्कर मून ने लिखा है कि "अंग्रेजों का भारत में प्रवेश करने और यहां बने रहने का प्रधान कारण भारत को लाभ पहुंचाना नहीं, अपितु ग्रेट ब्रिटेन को लाभ पहुंचाना था।"

इस प्रकार, उपनिवेशवाद अधीनस्थ देशों की आर्थिक बर्बादी, मानसिक दासता, नैतिकता एवं चारित्रिक अधःपतन, राजनीतिक गुलामी और सांस्कृतिक संपदा के विध्वंस का प्रधान कारण होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

8. बिंदु उपनिवेश का अभिप्राय है–
   (क) अत्यंत छोटे भूखंड (ख) विशाल प्रदेश
   (ग) विकासशील देश (घ) अविकसित देश
9. स्कॉट एट्रान उपनिवेशवाद के किस रूप से संबंधित हैं–
   (क) सरोगेट उपनिवेशवाद (ख) आंतरिक उपनिवेशवाद
   (ग) शोषण उपनिवेशवाद (घ) बिंदु उपनिवेशवाद
10. उपनिवेशवाद के प्रेरक तत्व हैं–
   (क) व्यापार तथा आर्थिक लाभ (ख) धर्म प्रचार
   (ग) अतिरिक्त पूंजी (घ) उपरोक्त सभी

टिप्पणी

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (घ)
3. (ग)
4. (ग)
5. (ख)
6. (क)
7. (ग)
8. (क)
9. (क)
10. (घ)

3.6 सारांश

उपनिवेशवाद एक ऐसी स्थिति या व्यवस्था है जिसके अंतर्गत किसी शक्तिशाली राष्ट्र के लोग अपने प्रभुसत्ताधारी की अनुमति, सहायता या समर्थन से दूसरे देश में जाकर बस जाते हैं और अपने अधीन देश के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों को अपने मूल देश की उन्नति और समृद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं। 16वीं शताब्दी से उपनिवेशवाद का प्रारंभ माना जाता है। यह मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से प्रारंभ हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवाद का पतन बहुत तेजी से हुआ क्योंकि मुख्य साम्राज्यवादी देशों इंग्लैंड तथा फ्रांस की शक्ति दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इतनी कम हो गई कि वे अब सैनिक बल पर उपनिवेशों पर अधिकार रखने में असमर्थ हो गए।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवोदित राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए उनके संपूर्ण सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पर्यावरण को समझना आवश्यक है। इसलिए राजनीतिक विकास उपागम इन देशों की राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं के विश्लेषण के अलावा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की परिस्थितिकीय शक्तियों के प्रभाव का भी विश्लेषण करता है।

राजनीतिक विकास तुलनात्मक राजनीति की एक नवीन अवधारणा है जो विकास की संपूर्णता के संदर्भ में नये विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने में सहायक है। इसका प्रयोग एक अवधारणा के रूप में ल्यूसियन पाई, आल्मण्ड, कोलमैन, रिग्स, माइनर वीनर, एप्टर आदि ने नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, म्यांमार, भारत, घाना आदि विकासशील देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए किया। इन अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र को भी सम्मिलित किया जाता है।

हंटिंगटन के अनुसार विकास की यह प्रक्रिया तभी संभव होती है जब यह तीनों स्तर क्रमिक रूप से उपलब्ध किए जाएं। उसका मानना है कि प्रथम के बाद दूसरा फिर तीसरा स्तर आ सकता है। तीनों का एक–दूसरे के ऊपर–नीचे या साथ–साथ प्रचालन घातक होता है। फिर उससे राजनीतिक विकास नहीं राजनीतिक पतन आता है।

राजनीतिक विकास की अवधारणा से राजनीतिक व्यवस्थाओं का उनके अतीत के आधार पर वर्गीकरण और तुलना करना संभव हो जाता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का वर्तमान उसके अतीत के प्रभाव से मुक्त नहीं होता। राजनीतिक व्यवस्थाओं के अतीत में यह संकेत मिलता है कि किसी व्यवस्था ने भूतकाल में समस्याओं का किस प्रकार सामना और समाधान किया। इसके ज्ञान से इस बात के संकेत मिलते हैं कि वह व्यवस्था भविष्य में आने वाली समस्याओं का मुकाबला किस प्रकार करेगी। विभिन्नीकरण, लौकिकीकरण और उपव्यवस्था स्वायत्तता का स्तर राजनीतिक व्यवस्थाओं में भविष्य का सामना करने की क्षमताओं का संकेत देता है। इस आधार पर विकासशील व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करके, उसकी तुलना से उनके भविष्य के बारे में पता लगाया जा सकता है।

उपनिवेशवाद का अभिप्राय है, किसी समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने हितों को साधने के लिए किसी निर्बल किंतु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों का शक्ति के बल पर उपभोग करना। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है, उसे शासन में कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता। यह ऐसी स्थिति या व्यवस्था है जिसके अंतर्गत किसी शक्तिशाली राष्ट्र के लोग अपने प्रभुसत्ताधारी की अनुमति, सहायता और समर्थन से दूसरे देश में जाकर बस जाते हैं, वहां अपना प्रभुत्व और प्रशासन स्थापित कर लेते हैं। अपनी भाषा, रीति–रिवाज और अपने मूल देश के प्रति निष्ठा कायम रखते हुए अपने अधीन देश के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों को अपने मूल देश की उन्नति और समृद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं।

औद्योगिक क्रांति ने राष्ट्रीय स्पर्धा की भावना को तीव्र किया। यूरोपीय देशों को कच्चा माल चाहिए था और तैयार माल बेचने के लिए बाजार चाहिए थे। इस प्रकार साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद ने आर्थिक स्वरूप ग्रहण किया। यूरोप के व्यापारी धन–लाभ के लिए पूंजी लगाने लगे जिससे उन्हें अधिक लाभ होने लगा। उपनिवेशों में व्यापार तथा विनियोग की सुविधा के साथ–साथ राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण भी स्थापित किया गया। इस प्रकार पूंजीवाद से उपनिवेशवाद की स्थापना हुई। बाद में पूंजीवाद के साथ–साथ उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का संबंध राष्ट्रीय गौरव और सैनिकवाद से भी जुड़ गया।

उपनिवेशवाद संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत इस बौद्धिक विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक राजनीतिक घटना आर्थिक तथ्यों का दर्पण मात्र है, जो कि वास्तव में मार्क्सवादी विचारधारा का आधार ही है। उपनिवेशवाद रूपी राजनीतिक घटना उस आर्थिक व्यवस्था की उपज है जिसे पूंजीवाद कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, पूंजीवादी समाज अपनी परिधि के भीतर अपनी उपज के अनुपात में व्यवसाय का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त नहीं कर पाता तथा अपनी पूंजी को फिर उद्योग में लाने का अवसर नहीं दे पाता। इसी कारण उनमें अन्य गैर–पूंजीवादी तथा अंत में पूंजीवादी क्षेत्रों में दासता की प्रवृत्ति प्रबल

टिप्पणी

हो उठती है। इससे उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज की खपत के लिए पूंजीवादी देशों को भी अपना बाजार बनाना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी स्वयं की अतिरिक्त पूंजी को नए उद्योग–धंधों में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

क्षेत्रीय उपनिवेश वे विशाल भू–प्रदेश हैं जिन पर आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से नियंत्रण किया जाता है। ये दो प्रकार के हैं– बस्ती उपनिवेश तथा शोषण क्षेत्र उपनिवेश। बस्ती उपनिवेश वे उपनिवेश हैं जहां की जलवायु और ऋतु यूरोपियन लोगों के अनुकूल है, और वे बड़ी संख्या में वहां निवास करते हैं। शोषण क्षेत्र उपनिवेश वे क्षेत्र हैं जिनका प्रयोग केवल शोषण के लिए किया जाता है तथा इन उपनिवेशों में यूरोपियनों की संख्या बहुत कम होती है तथा वे मुख्यतः शासक वर्ग, व्यापारी वर्ग, पादरी वर्ग एवं सैनिक वर्ग तक ही सीमित होते हैं।

उपनिवेशवाद पराधीन देश के नैतिक और सांस्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी है। उपनिवेशवादी देश अपनी सभ्यता और संस्कृति को पराधीन जातियों पर लादने लगते हैं। फलस्वरूप पराधीन जातियों की निजी सभ्यता और संस्कृति नष्ट हो जाती है। अतः नैतिकता के आधार पर कभी भी उपनिवेशवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **उपव्यवस्था** : किसी व्यवस्था के विभिन्न भागों में से एक। समाज एक व्यवस्था है, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक उसकी विभिन्न उपव्यवस्थाएं हैं।
- **स्वायत्तता** : स्वयं निर्णय लेने का अधिकार होना।
- **वैधानिक** : कानूनी।
- **नौकरशाही** : यह एक विशेष प्रकार का संगठन है। विशेषतः यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है।
- **पराधीन** : परतंत्र।
- **प्रभुसत्ताधारी** : किसी देश का शासक वर्ग जिसके पास संप्रभुता होती है।
- **प्राकृतिक संसाधन** : प्रकृति से प्राप्त संसाधन, खनिज, जल, ईंधन, भूमि तथा भूमि से निकले पदार्थ।
- **मानवीय संसाधन** : जनसंख्या मुख्य मानवीय संसाधन है।
- **विदेश नीति** : राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए किसी देश के द्वारा अन्य देशों से संपर्क स्थापित करने के सभी कार्यकलापों का समावेश विदेश नीति में होता है।
- **आत्मसात** : ग्रहण करना।
- **डालर कूटनीति** : लैटिन अमेरिकी देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका ने जिस नीति का अनुसरण किया उसे सामान्यतया डालर कूटनीति के नाम से जाना जाता है।

- **मुनाफा** : लाभ।
- **अतिरंजित** : बढ़ा–चढ़ाकर।

टिप्पणी

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक विकास से आप क्या समझते हैं?
2. ल्यूसियन पाई द्वारा बताए गए राजनीतिक विकास के लक्षणों को स्पष्ट कीजिए।
3. उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिवेशवाद के विभिन्न प्रकार बताइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. आल्मण्ड एवं हंटिंगटन द्वारा बताए गए राजनीतिक विकास के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए।
2. राजनीतिक विकास की समस्याओं को बताते हुए तुलनात्मक राजनीति में उसका महत्व बताइए।
3. उपनिवेशवाद के विभिन्न कारणों को स्पष्ट करते हुए इसके प्रभावों का विवेचन कीजिए।
4. उपनिवेशवाद के मार्क्सवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गेना, सी.बी., "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं" विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली, 2002।
2. शर्मा, प्रभुदत्त, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें" कालेज बुक डिपो, जयपुर।
3. जौहरी, जे.सी. "तुलनात्मक राजनीति" स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई दिल्ली।
4. वर्मा, एस. एल., उच्चतर आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।
5. गाबा, ओमप्रकाश, "तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा", मयूर पेपर वैक्स नोएडा।
6. डॉ. धर्मवीर, "राजनीतिक समाजशास्त्र", राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

इकाई 4 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, उत्तर औपनिवेशिक राज्य एवं राजनीतिक नेतृत्व

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष
4.3 उत्तर औपनिवेशिक राज्य
4.4 राजनीतिक नेतृत्व
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

आधुनिक युग के इतिहास में उपनिवेशवाद और उसके विरुद्ध संघर्ष की विशेष भूमिका रही है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप के अनेक देशों ने विशेषतः ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, बेल्जियम और नीदरलैंड ने अपनी–अपनी राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के बाद अपने उद्योग–व्यापार के विस्तार के लिए अमरीका, एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपने उपनिवेश स्थापित किये, अपने राजनीतिक प्रभुत्व के अन्तर्गत वहां अपना–अपना प्रशासन स्थापित किया, और वहां के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों का भरपूर शोषण करके अपने राष्ट्रीय गौरव, शक्ति और समृद्धि का विस्तार किया। दूसरे विश्व युद्ध के वाद उपनिवेशवाद के पतन का युग प्रारम्भ हुआ। एशिया और अफ्रीका के पराधीन देश एक–एक करके स्वतन्त्र होते गये। लैटिन अमेरिका में औपचारिक उपनिवेशवाद का अंत 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही शुरू हो गया था। 1990 में नामीबिया की स्वतन्त्रता और 1994 में दक्षिण अफ्रीका के अन्दर रंगभेद की समाप्ति के साथ सम्पूर्ण विश्व में उपनिवेशवाद का औपचारिक अंत हो चुका है। लेकिन विकासशील या नवोदित राज्यों के शोषण की समस्या नवउपनिवेशवाद के रूप में अभी भी बनी हुई है।

प्रस्तुत इकाई में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष की प्रकृति, संघर्ष के चरण, उत्तर औपनिवेशिक राज्यों की विशेषताएं, उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के विकास के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण, राजनीतिक नेतृत्व की अवधारणा एवं विचारधाराओं का वर्णन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष की प्रकृति एवं चरणों से अवगत हो पाएंगे;
- उत्तर औपनिवेशिक राज्यों का अभिप्राय एवं उनकी विशेषताओं को जान पाएंगे।

- उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के विकास के सन्दर्भ में उदारवादी परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण कर पाएंगे;
- राजनीतिक नेतृत्व के कार्य एवं नेतृत्व की विचारधाराओं का उल्लेख कर पाएंगे।

4.2 उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष

बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष एक ऐतिहासिक घटना है। उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का अभिप्राय है उपनिवेश देशों में साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ संघर्ष जो अधिकांशतः 20वीं शताब्दी की पहली छमाही के दौरान हुआ। यूरोपीय देशों के अधिकतर उपनिवेशों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना पड़ा। यद्यपि इन संघर्षों की पद्धति एक समान नहीं थी, न ही उनके संघर्ष के साधन एक जैसे थे और न ही इनकी समयावधि एक थी परन्तु आमतौर पर इन्हें एक जैसा ही कहा जाता है। इनकी एक महत्वपूर्ण पहचान थी कि ये यूरोपियन शक्तियों के प्रभुत्व के विरुद्ध चलाये गये आन्दोलन थे।

उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के चरण

उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के प्रतिमान (चरण) और साधन विकसित करने में अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश तथा स्वयं शासन करने वाले यूरोपीय देशों के आन्तरिक परिवर्तनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

इनमें मुख्यतः प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद, नये नेतृत्व का उदय तथा जन आन्दोलन शामिल हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है–

1. **प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद**– उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन में सर्वप्रथम प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद प्रारम्भ हुआ। इस युग में उपनिवेशों की जनता को न तो अपने अधिकारों का ज्ञान था और न ही उन्हें स्वतन्त्रता की आवश्यकता महसूस हुई थी। इस समय कुछ उपनिवेशवासियों ने औपनिवेशिक शासन को स्वीकार किया हुआ था, परन्तु कुछ देशों में सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों ने सुधारों की मांग करना प्रारम्भ कर दिया था। भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद इसका लक्ष्य अंग्रेजी शासन को बाहर भगाना नहीं था। शुरू के कुछ वर्षों में राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के पश्चात पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त, पाश्चात्य ढंग के रहन–सहन वाले अभिजन वर्ग एकत्रित होकर ब्रिटिश सरकार से राजनीतिक सुधारों की मांग किया करते थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश सभ्यता श्रेष्ठ है, न्यायप्रिय और औचित्य में विश्वास रखने वाली है। राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रारम्भिक मांगों में सीमित स्थानीय सुधार परिषदों में भागीदारी तथा शिक्षित लोगों के लिए नौकरी की मांग थी। इसके अन्तर्गत केवल प्रार्थना पत्र भेजने तथा सुधारों की मांग करने से सन्तोष हो जाता था। आगे चलकर प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद की अवधारणा भारत के अतिरिक्त इण्डोनेशिया, अल्जीरिया, नाइजीरिया तथा अफ्रीकी देशों में फैल गई।
2. **नये नेतृत्व का उदय**– इस चरण को नये नेतृत्व के उदय के रूप में जाना जाता है। राष्ट्रवाद के उदय के कारण औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष

टिप्पणी

प्रारम्भ हुआ तथा आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रवाद के प्रति समर्पित नये नेताओं के हाथों में आ गया। मध्यम वर्ग के लोग भी राष्ट्रवाद की भावना से परिचित हुए। इस आन्दोलन के अन्तर्गत स्वतन्त्रता को भविष्य का लक्ष्य स्वीकार किया गया।

यह चरण भारत में द्वितीय विश्व युद्ध तक चला। राष्ट्रीय कांग्रेस का आधार भी विकसित हुआ, परन्तु यह अभी तक जनआन्दोलन का रूप नहीं ले सका था। पूर्ण स्वराज्य से पहले भारत की मांग डोमिनियन स्टेट्स की थी। अब आन्दोलन का नेतृत्व लाला लाजपत राय, जवाहरलाल नेहरु, मौलाना आजाद तथा सरदार पटेल जैसे राष्ट्रवादियों ने किया। ट्यूनीशिया तथा नाइजीरिया में क्रमशः वर्ष 1934 और वर्ष 1944 में इस प्रकार की मांग उठाई गई। इस चरण में प्रत्येक उपनिवेश देश में प्रभावशाली नेतृत्व का उदय हुआ। इनमें कीनिया में जोमो केनयाट्टा, घाना में क्वामें नक्रूमा तथा म्यामार में आंग सान सू प्रमुख थीं।

3. **जन–आन्दोलन**– जन–आन्दोलन उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष का अन्तिम चरण था। राष्ट्रीय आन्दोलन इस समय काफी शक्तिशाली एवं व्यापक हो गये थे। इस चरण में उपनिवेशिक शक्ति को सत्ता में बने रहने के लिए बल प्रयोग करना पड़ा। महात्मा गांधी के नेतृत्व में यह आन्दोलन दूर–दूर के गांवों तथा जनसाधारण तक पहुंच गया। पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए जन–आन्दोलन की भूमिका बहुत निर्णायक सिद्ध हुई। इस काल में ब्रिटिश शासकों ने बड़ी संख्या में लोगों को गिरफ्तार किया तथा अनेक प्रमुख नेताओं को जेल में डाल दिया। वर्ष 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा होते ही ब्रिटिश सरकार घबरा गई।

प्रत्येक उपनिवेश में तीनों चरण एक समान स्पष्ट नहीं थे। ब्रिटिश उपनिवेशों में यह क्रिया दीर्घकाल तक चली। अनेक फ्रांसीसी उपनिवेशों में तो केवल 10 से 20 वर्ष में संघर्ष सफल हो गये। कुछ राष्ट्र जैसे कांगो तथा बेल्जियम में वर्ष 1955 तक कोई स्वतन्त्रता आन्दोलन नहीं हुआ था। उनके स्थानीय नेताओं के अनुसार, उन्हें स्वतन्त्रता पाने में 60 या 70 वर्ष लगने का अनुमान था, परन्तु घटनाक्रम इतनी तेजी से बदला कि 5 वर्षों में वर्ष 1960 में ही कांगो स्वतन्त्र हो गया था।

अफ्रीका में स्वाधीनता की लहर

अफ्रीका एक देश अथवा प्रदेश नहीं बल्कि एक महाद्वीप है जिसमें अनेक देश हैं। अफ्रीका को अन्ध–महाद्वीप के रूप में सम्बोधित किया जाता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि अफ्रीका तथा इसके इतिहास के संबंध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। यहां का विशाल क्षेत्र, जलवायु, वन, मरुस्थल आदि सदियों तक इसके क्षेत्र को शेष विश्व से पृथक रखते रहे हैं। इसके पश्चात अनेक खोजकर्ताओं ने इस महाद्वीप के विभिन्न भागों की जानकारी दी। जैसे ही अफ्रीका के विभिन्न क्षेत्र प्रकाश में आये, यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों ने उन पर अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया तथा अधिकांश महाद्वीप विदेशी शक्तियों के मध्य विभक्त हो गया।

1936 में इटली ने अफ्रीका के अन्तिम स्वाधीन राज्य अबीसीनिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया। इस घटना के बाद अफ्रीका में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रबल हुआ। यह नारा दिया गया कि 'अफ्रीका अफ्रीकावासियों का हो'।

टिप्पणी

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसके विभिन्न प्रदेश तेजी से स्वतन्त्र होने लगे। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर 1947 में इस महाद्वीप में केवल चार स्वतन्त्र राज्य थे– अबीसीनिया, लाईबीरिया दक्षिण अफ्रीका का यूनियन तथा मिस्त्र। अफ्रीका महाद्वीप में स्वतन्त्रता की तीन लहरें देखने को मिलती हैं–

स्वतन्त्रता की पहली लहर ने अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर अरबों द्वारा आवासित उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को समाप्त किया। इसमें 1951 में स्वतन्त्र होने वाला लीबिया तथा 1956 में स्वाधीनता पाने वाले सूडान, मोरक्को तथा टयूनीशिया थे।

इसके बाद स्वाधीनता की दूसरी लहर ने काले अफ्रीका अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवासित अफ्रीका पर प्रभाव डाला। 1957 में ब्रिटेन ने घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की तथा 1958 में गिनी स्वाधीन हुआ। 1959 तक अफ्रीका में 11 राज्य स्वाधीन हो गये।

1960 में अफ्रीका में स्वतन्त्रता की तीसरी लहर आई और इस महाद्वीप के अधिकांश देश स्वाधीन हो गये। इसी कारण 1960 को अफ्रीका की स्वाधीनता का वर्ष कहा जाता है।

एशिया में नवजागरण की स्थिति

एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्य से मुक्त हुए, उनमें किस प्रकार चेतना उत्पन्न हुई, उन्होंने अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं को दूर कर अपनी उन्नति की ओर किस प्रकार कदम बढ़ाया? विदेशी प्रभुत्व को नष्ट कर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में किस प्रकार सफल हुए आदि घटनाओं को पामर और पर्किन्स ने 'एशिया का विद्रोह' कहा है। वे लिखते हैं, "एशिया का विद्रोह 20वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास सिद्ध हो सकता है।"

मेकमोहन बाल के अनुसार– यह विद्रोह तीन मुख्य शक्तियों की उपज है–

1. यह विदेशी राजनीतिक नियन्त्रण के विरुद्ध उपनिवेशवाद के विरुद्ध विद्रोह है। यह आत्मनिर्णय का राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का दावा है।
2. यह उन व्यक्तियों द्वारा एक सामाजिक और आर्थिक विद्रोह है जिन्हें अपनी दरिद्रता और दुर्भाग्य की तीव्रतर अनुभूति है।
3. यह उपयुक्त नाम के अभाव में एक जातीय विद्रोह कहा जा सकता है। यह पूरब का पश्चिम के विरुद्ध विद्रोह है।

19वीं शताब्दी में एशिया कच्चे माल की आवश्यकता, उत्पादित माल को खपाने के लिए मंडियों और अतिरिक्त धन के विनियोग के लिए यूरोपीय राष्ट्रों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र बना। आर्थिक सत्ता के शोषण की आवश्यकता पर आधारित पश्चिमी स्वामित्व ने कालान्तर में एशियाई देशों को भुखमरी, दरिद्रता, पीड़ा तथा असंख्य कष्टों के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। जब तक लोगों ने विदेशी सत्ता के वास्तविक स्वरूप को पहचाना तब तक वे निष्क्रिय और शान्त रहे, जब उन्हें यह आभास हुआ कि उनके पतन का कारण विदेशी शासक और उनकी औपनिवेशिक प्रवृत्तियां हैं, वे विद्रोही हो गये। यह चेतना काफी कुछ पश्चिमी ज्ञान, साहित्य, कानून व संस्थाओं के कारण उत्पन्न हुई थी। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत एशिया में स्वशासन और राष्ट्रीयता की

पहली लहर आई। एशियाई राष्ट्रों के नेतागण स्वशासन, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय तथा विश्व में अपने स्थान की मांग करने लगे। इस मांग ने आगे चलकर स्वाधीनता आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। एशियाई राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलन की मांग थी–उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद व जातीय भेदभाव की समाप्ति। द्वितीय विश्व युद्ध में उपनिवेशवादी शक्तियों का ह्रास हुआ और एक–एक करके एशियाई राष्ट्र स्वतन्त्र होने लगे।

लैटिन अमेरिका में स्वाधीनता का उदय

स्वाधीन होने से पूर्व लैटिन अमेरिका में पुर्तगाल, स्पेन और फ्रांस के उपनिवेश थे। लैटिन अमेरिका लगभग 300 वर्षों तक यूरोपीय शक्तियों के अधीन रहा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए आन्दोलन छिड़ने के बाद एक–एक करके लैटिन अमेरिकी राज्य स्वतन्त्र हो गये। लम्बे संघर्ष के बाद दक्षिण अमेरिका के पुर्तगाली भाषा–भाषी लोगों को स्वाधीनता प्राप्त हुई। अतः इनका जो स्वाधीन राज्य 1825 में स्थापित हुआ वह ब्राजील के संघीय राज्य के नाम से हमारे सामने आया। दूसरी ओर स्पेन के उपनिवेशों ने अपना सभारम्भ आठ विभिन्न राष्ट्रों के रूप में किया। ये राष्ट्र थे–मैक्सिको, मध्य अमेरिका, कोलम्बिया, पीक, बोलीविया, पैरागुए, अर्जेण्टाइना और चिली। परन्तु एक शताब्दी में ही इन आठ राष्ट्रों की संख्या अट्ठारह हो गई। 1828 में उरुग्वे ने अर्जेण्टाइना के विरुद्ध विद्रोह किया तथा 1830 में वह स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया। वेनेजुएला 1829 में कोलम्बिया से अलग हो गया। इक्वेडोर 1830 में पृथक हो गया और पनामा 1903 में। 1940 के मध्य अमेरिका में 5 राज्य बने–ग्वाटेमाला, होण्डूरास, निकारागुआ, सैलवेडोर तथा कोस्टरिका। सैन डोमिन्गो हैती से पृथक राज्य इसी समय बना। अनेक विद्रोहों के उपरान्त तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप के बावजूद 1899 में क्यूबा को भी स्वाधीनता प्राप्त करने में सफलता मिल गई। लैटिन अमेरिका के देशों को स्पेनी शासकों से स्वतन्त्रता उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे–तीसरे दशक में ही मिल गई थी परन्तु बाद में वे संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव और प्रभुत्व के नीचे दबे रहे। जब एशिया और अफ्रीका के नवोदित देशों में विकास की आकांक्षा जागी, तब लैटिन अमेरिका के ये देश भी इनके साथ आकर खड़े हो गये और उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों के रूप में अपनी पहचान बना ली।

अपनी प्रगति जांचिए

1. उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में सर्वप्रथम किसका प्रारंभ हुआ?
   (क) नए नेतृत्व का उदय (ख) प्रतीकात्मक राष्ट्रवाद
   (ग) जन–आंदोलन (घ) इनमें से कोई नहीं
2. "एशिया का विद्रोह 20वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास सिद्ध हो सकता है।" यह किसका कथन है?
   (क) मेकमोहन बाल (ख) लोएंस्टाइन
   (ग) पार्किन्स (घ) सैमुअल हंटिंगटन
3. ब्रिटेन ने घाना को कब स्वतंत्रता प्रदान की?
   (क) 1857 (ख) 1867
   (ग) 1877 (घ) 1899

टिप्पणी

4.3 उत्तर औपनिवेशिक राज्य

उत्तर औपनिवेशिक राज्य ऐसे राष्ट्रीय राज्य हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवादी शिंकजे से मुक्त हुए थे। इस प्रक्रिया को वि–औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के रूप में भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के वे देश आते हैं जिन्हें उपनिवेशवादी प्रभुत्व से राजनीतिक स्वाधीनता दूसरे विश्व युद्ध के बाद प्राप्त हुई है। लैटिन अमेरिका के देशों को स्पेन के प्रभुत्व से स्वतन्त्रता 19वीं शताब्दी के दूसरे तीसरे–दशक में ही प्राप्त हो गई थी। लेकिन वे काफी समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में रहे। एशिया, अफ्रीका के नवोदित राज्यों ने जब अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने शुरू किये तो लैटिन अमेरिका के ये देश भी उनके साथ आ गये। इन देशों को तीसरी दुनिया के देशों के रूप में भी जाना जाता है। ये देश औपनिवेशिक प्रभावों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये हैं। इन राज्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन पर अभी भी औपनिवेशिक प्रभाव दिखाई देता है। वर्तमान में ये राज्य नवउपनिवेशवाद का शिकार हो रहे हैं।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों की विशेषतायें

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों की विशेषतायें इस प्रकार हैं–

- इन राज्यों में शान्ति, उन्नति और विकास के भिन्न–भिन्न मॉडल देखने को मिलते हैं। एशियाई देशों में उत्तर औपनिवेशिक दौर में राज्य–निर्माण की एकरूपता देखने को नहीं मिलती। ये देश भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक, जातिगत, भाषाई और धार्मिक तत्वों के मिश्रण हैं। अतः स्वाधीनता के बाद इनमें अलग–अलग प्रकार की राजनीति का उदय हुआ जो प्रत्येक देश की ऐतिहासिक परम्परा के साथ जुड़ी है। उदाहरण के लिए भारत में बहुदलीय लोकतन्त्र है, पाकिस्तान में सैनिक हस्तक्षेप की स्थिति बनती रहती है।
- लैटिन अमेरिकी देशों में 1945 के बाद लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया को बल मिला। 1950 के दशक में वहां औद्योगीकरण और शहरीकरण का विस्तार हुआ। जनसंख्या में वृद्धि हुई। अतः जनता ने सरकार से समाज कल्याण के कार्य करने और उन्हें राजनीतिक सहभागिता का अवसर देने की मांग की। परन्तु शासक वर्ग ने इस पर ध्यान नहीं दिया और उसे दबा दिया। इससे लैटिन अमेरिका में नये सत्तावाद के दौर की शुरूआत हुई। 1964–1976 के बीच अर्जेन्टीना, चिली, पेरु, उरुग्वे, ब्राजील जैसे देशों में सैनिक विद्रोह हुए जिन्होंने लोकतन्त्रीय शासन को धराशायी कर दिया। सैनिक विद्रोह वाला गुटतन्त्र चुनावों पर प्रतिबन्ध लगाकर जनसामान्य को निर्णय–प्रक्रिया से अलग कर देता है। वह राज्य के संसाधनों का प्रयोग अधिकारी तन्त्र और सेना को सुदृढ़ करने के लिए करता है। 1970 और 1980 के दशकों में लैटिन अमेरिकी देशों में विदेशी ऋण की अधिकता हो गई, आर्थिक समृद्धि कम होती जा रही है, आर्थिक और राजनीतिक संकटों के कारण शासक विशिष्ट वर्गों के लिए खतरा पैदा हो गया। इन परिस्थितियों में विशिष्ट वर्ग चुनाव कराने को विवश हो गये। इस दौर में लोकतन्त्रीय आन्दोलन निचले स्तरों से शुरू हुए।

- अफ्रीकी देशों में आर्थिक विकास के निम्न स्तर के कारण स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। इन देशों के लोग जाति और धर्म के आधार पर बहुत ज्यादा हिस्सों में बंटे हुए हैं। अल्जीरिया मोजाम्बिक, बुरुंडी, सोमालिया, लाइबेरिया, अंगोला में आन्तरिक संघर्ष के कारण जो विध्वंस हुआ, उससे यह ज्ञात होता है कि वहां नागरिक समाज की संस्थायें और राज्य दोनों ही कमजोर स्थिति में हैं।
- पिछले कुछ वर्षों में तीसरी दुनिया के देशों में सत्तावादी प्रणालियों का ह्रास हुआ है और लोकतान्त्रिक पद्धति को बढ़ावा मिला है। सैमुअल हंटिंगटन ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द थर्ड बेवः डेमोक्रेटाइजेशन इन द लेट ट्वेंटिएथ सेंचुरी' (1991) के अन्तर्गत इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को 'तीसरी लहर' की संज्ञा दी।
- उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में जहां–जहां लोकतन्त्रीय प्रणाली स्थापित की गई, वहां भी जनसामान्य की राजनीतिक सहभागिता प्रभावशाली रूप से कार्यान्वित नहीं हो पाई है।
- एशिया और अफ्रीका के जिन विकासशील राष्ट्रों ने दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवादी शासन से स्वाधीनता प्राप्त की, उन्होंने अधिकांशतः ब्रिटिश प्रभाव के कारण पश्चिमी उदारवादी प्रणाली के संविधान स्वीकार किये। परन्तु लैटिन अमेरिका सहित अधिकांश नवोदित राष्ट्रों में संविधान के प्रकट रूप और उनकी व्यवहारिक राजनीति में अन्तर पाया जाता है।
- उपनिवेशवादी शासन के दौरान ये देश लगभग अपने पश्चिमी शासकों की राजनीतिक संस्थाओं और परम्पराओं से परिचित हो चुके थे, क्योंकि वहां उपनिवेशवादी शासकों ने पश्चिमी ढंग की प्रशासनिक व्यवस्थायें स्थापित की थीं। स्वतन्त्रता के बाद ये व्यवस्थायें इन देशों को विरासत में मिलीं। नवोदित राज्यों के विशिष्ट वर्ग ने इन्हीं पश्चिमी व्यवस्थाओं को अपना लिया।

पीटर एच. मर्कल ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल कांटिनुइटी एण्ड चेंज' (1972) के अन्तर्गत लिखा है कि विकासशील देशों में क्रान्तिकारी उथल–पुथल की वर्तमान स्थिति इन देशों में संवैधानिक विफलता का मुख्य कारण है। अधिकांश देशों में उपनिवेशवादी शासन की शुरुआत से ही परम्परागत जीवन पद्धति के विध्वंस की प्रक्रिया शुरू हो गई थी। इनकी स्वाधीनता के बाद जब इनमें औद्योगीकरण और शहरीकरण को बढ़ावा मिला तो यह प्रक्रिया और भी तेज हो गई और जब यहीं के लोगों ने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करके यहां पश्चिमी संस्कृति को बढ़ावा दिया तो यहां के पुनरुत्थानवादी तत्वों ने इसका जमकर विरोध किया। यहां की परम्परा के अन्तर्गत कबीले और परिवार के प्रति निष्ठा सर्वोपरि मानी जाती थी। यह स्थिति पश्चिमी संविधानवाद के विरुद्ध थी।

विकासशील देशों के समाज में विस्तृत कानूनी परम्परा के अभाव के कारण वहां कानून की मूल चेतना विकसित नहीं हो पाई जो पश्चिमी संवैधानिक विकास की विशेषता थी। यदि उत्तर औपनिवेशिक राज्य अपने–अपने संवैधानिक स्वरूप को बनाये नहीं रख पाये तो इसका एक कारण लोएंस्टाइन ने उनकी सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि को माना है।

टिप्पणी

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में सेना का हस्तक्षेप

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में सेना का हस्तक्षेप एक आम बात रही है। इन देशों में सेना के राजनीतिक महत्व के कई कारण हैं–

(क) शीतयुद्ध के दौरान तीसरी दुनिया के जिन देशों की सेनायें साम्यवाद–विरोधी प्रतीत होती थीं, पश्चिमी देशों की सरकारों ने उनकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया।

(ख) इन देशों में सामाजिक संघर्ष कभी–कभी इतना तीव्र हो जाता है कि उसके नियन्त्रण के लिए सेना का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

(ग) नवोदित राज्यों में सैन्य शक्ति न केवल असहमति का दमन करती है बल्कि सामाजिक जीवन में भी कई भूमिकायें निर्वाह करती है। जैसे चीन की सेना कई हजार कंपनिया चलाती है। पाकिस्तान में सेना का महत्व बहुत ज्यादा है।

लेकिन वर्तमान दशक के मध्य से सैनिक तथा अन्य प्रकार के अधिनायकतंत्रों का ह्रास हुआ है और लोकतन्त्रीय शक्तियों का विकास हो रहा है।

(घ) तीसरी दुनिया के देशों में सरकार की वैधता जनसाधारण के कल्याण, उनकी सेवा और उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ जुड़ी है।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के विकास के सन्दर्भ में विभिन्न परिप्रेक्ष्य

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों को अपने विकास के लिए कौन–सा रास्ता अपनाना चाहिये इस विषय पर उदारवादी, मार्क्सवादी एवं नवमार्क्सवादी विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं–

उदारवादी दृष्टिकोण

संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों के सिद्धान्तकारों ने पश्चिम के उदार लोकतन्त्र को विकसित राजनीतिक प्रणाली का प्रतिरूप मानते हुए एक मानदण्ड के रूप में अपनाया ताकि नवोदित राज्यों की राजनीतिक संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं को इनके साथ मिलाकर उनके विकास के स्तर को मापा जा सके। इसके पीछे यह संकेत छिपा था कि नवोदित देशों को अपने राजनीतिक विकास के लिए पश्चिमी देशों के अनुरूप संरचनायें विकसित करनी होंगी अन्यथा वे पिछड़ जायेंगे। इसके लिए राजनीतिक विकास के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक होगा।

राजनीतिक विकास– ल्यूसियन पाई ने राजनीतिक विकास के तीन परिप्रेक्ष्य बताये हैं–समानता, क्षमता तथा विभिन्नीकरण। जब उत्तर औपनिवेशिक राज्य इन तीनों विशेषताओं को प्राप्त कर लेते हैं तब राजनीतिक विकास की स्थिति मानी जाती है।

- **समानता**– जब राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के सभी लोगों को समान अवसर प्राप्त हो और राजनीतिक प्रक्रियाओं में जनसहभागिता में किसी प्रकार भेदभाव नहीं हो तब समानता की स्थिति आती है।

- **क्षमता**– क्षमता का अभिप्राय है राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता की वृद्धि। समाज में उठने वाली उचित मांगों का समुचित समाधान तथा अनुचित मांगों को दृढ़ता से अस्वीकार कर सकना राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता का सूचक है।

- **विभिन्नीकरण**– इसका अभिप्राय है अलग–अलग कार्यों के लिए अलग–अलग संरचनायें होती हैं और उनके सुनिश्चित कार्य होते हैं।

उदारवादी दृष्टिकोण के समर्थक आर्थिक संवृद्धि को विकास की अनिवार्य शर्त मानते हैं। वे यह मानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को प्रचुरता की स्थिति तक पहुंचने से पहले आर्थिक संवृद्धि की निश्चित अवस्थाओं को पार करना होता है। डब्ल्यू.डब्ल्यू. रास्टोव ने अपनी महत्वपूर्ण कृति "स्टेजेज ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ" के अन्तर्गत आर्थिक संवृद्धि की पांच अवस्थाओं की पहचान की है।

(1) **परम्परागत समाज**– इसमें श्रमप्रधान कृषि ही उत्पादन का मुख्य स्रोत होती है और प्रौद्योगिकी तथा उत्पादन का स्तर बहुत कम होता है।

(2) **संक्रमणकालीन अवस्था**– यह वह स्थिति है जिसमें राजनीतिक एवं आर्थिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। यह वह अवस्था है जो न तो पूर्णतः परम्परागत है और न पूर्णतः विकसित।

(3) **उत्कर्ष अवस्था**– इस अवस्था में औद्योगीकरण के मार्ग की संरचनात्मक बाध्यतायें हट चुकी होती हैं, और उद्यमी वर्ग का उदय हो जाता है।

(4) **प्रौढ़ता की ओर प्रेरणा की अवस्था**– इस अवस्था में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो जाता है और प्रौद्योगिक विकास तथा उत्पादकता का स्तर ऊंचा हो जाता है।

(5) **उच्च स्तर के जनपुंज–उपभोग**– इस अवस्था में समाज बुनियादी आवश्यकताओं के स्तर से ऊपर उठकर टिकाऊ वस्तुओं का भरपूर उपभोग करने लगता है। इस अवस्था में प्रचुरता की स्थिति आ जाती है।

विकास के सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि विकासशील देशों को अपने विकास के लिए पूंजीवादी देशों के रास्ते पर चलना होगा। उदारवादी दृष्टिकोण यह मानता है कि विकासशील देशों में आर्थिक विकास के माध्यम से लोकतन्त्र की स्थापना हो जायेगी। उत्तर औपनिवेशिक राज्य पश्चिमी देशों का अनुकरण करके आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पश्चिमी देशों के तुल्य हो जायेंगे।

सीमोर लिप्सेट ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पोलिटिकल मैन' (1963) के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि किसी देश के लोग जितने सम्पन्न होंगे, वहां लोकतन्त्र की संभावनायें उतनी ही अधिक होंगी। समृद्ध अर्थव्यवस्था लोगों में साक्षरता, शिक्षा की वृद्धि करती है, लोगों को राजनीतिक सहभागिता के अवसर मिलते हैं। जिससे राजनीतिक तनावों में कमी आती है।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के सन्दर्भ में मार्क्सवादी एवं नवमार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादी एवं नवमार्क्सवादी सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के अल्पविकास का कारण पूंजीवादी देशों की गतिविधियां हैं।

आंद्रे जी. फ्रैंक ने "कैपिटलिज्म एण्ड अण्डर डेवलपमेण्ट इन लैटिन अमेरिका" (1976) के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि लैटिन अमेरिका में राष्ट्रीय स्तर पूंजीपति और बुर्जुवा–वर्ग विकास को उस तरह बढ़ावा नहीं दे सकते जैसे इनके समानान्तर तत्वों ने संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैण्ड में बढ़ावा दिया। फ्रैंक ने साम्राज्यवादी और उपाश्रित देशों की तुलना केन्द्र और परिधि (Centre and Periphery) से की है। साम्राज्यवादी और उपाश्रित देश आपस में इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि जैसे–जैसे केन्द्र

टिप्पणी

का विकास बढ़ता जाता है वैसे–वैसे परिधि का अल्प विकास बढ़ता जाता है। अतः परिधि के अल्प विकास को रोकने का एक ही तरीका है कि पूंजीवाद के साथ उसके संबंधों को तोड़ दिया जाये।

नवमार्क्सवादी लेखकों ने अपने पराश्रितता सिद्धान्त (Dependency Theory) के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि नवोदित राज्यों का सामाजिक और आर्थिक विकास बाह्य शक्तियों से नियन्त्रित हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय के स्तर पर शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभुत्व है।

पराश्रितता सिद्धान्त

पराश्रितता सिद्धान्त इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि औपचारिक उपनिवेशवाद तो अब अस्तित्व में नहीं है परन्तु आर्थिक या नवउपनिवेशवाद आज भी बना हुआ है। समृद्ध देश नवोदित राज्यों में पूंजी निवेश करके उन्हें कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और तैयार माल के बाजार के रूप में प्रयोग करते हैं। इस प्रकार पुरानी उपनिवेशवादी शक्तियों को उपनिवेशवाद का आर्थिक लाभ पहले की तरह प्राप्त हो जाता है।

इस सिद्धान्त के समर्थक यह सुझाव देते हैं कि तीसरी दुनिया में कच्चे माल के पूर्तिकर्ताओं को अपने–अपने उत्पादक संघ बना लेने चाहिये और अपने माल के निश्चित भाव तय कर देने चाहिये ताकि पहली दुनिया के समृद्ध देश उनका शोषण न कर सकें।

पराश्रितता सिद्धान्त के नये व्याख्याकार एम.ए. गैरेटन ने 1991 में प्रकाशित अपने एक लेख (द रीथिकिंग थर्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स) में सम्पादक ने मेनर के अन्तर्गत यह तर्क दिया है कि वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए तीन शर्तें पूरी होनी चाहिये।

1. नागरिक प्रशासन सशस्त्र सेनाओं पर अपना सुदृढ़ नियन्त्रण स्थापित करें।
2. विधि का शासन, आर्थिक समानता, सामाजिक न्याय और मानव अधिकार सरकार के मुख्य सरोकार होने चाहिये।
3. समाज के पिछड़े वर्ग, महिलायें, युवा वर्ग, और निर्धन लोगों की राजनीतिक सहभागिता बढ़ाई जानी चाहिये।

पराश्रितता सिद्धान्त विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं से मुख्यतः सम्बन्धित है परन्तु राजनीतिक और सामाजिक स्तरों पर भी पश्चिम का अन्धानुकरण नवोदित राज्यों के लिए हानिकारक है।

घाना के भूतपूर्ण राष्ट्रपति क्वामें नक्रूमा ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'नियोकालोनियलिज्मः द हाइएस्ट स्टेज ऑफ इंपीरियलिज्म' में नवउपनिवेशवाद को परिभाषित करते हुए यह बताया है कि उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में यूरोपियन शक्तियों का प्रभाव अब भी देखने को मिलता है। विदेशी पूंजी के प्रयोग से पश्चिमी राष्ट्रों ने इस व्यवस्था को कायम रखने के लिए पूरी योजना बनाकर विकासशील देशों की राजनीति में हस्तक्षेप किया है।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक एवं उपाश्रितवर्गीय दृष्टिकोण

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक एवं उपाश्रितवर्गीय दृष्टिकोण यह मानता है कि नवोदित राज्यों के समक्ष उनकी पहचान का संकट है। फ्रैन्ट्ज फैनन

(Frantz Fanon) ने अपनी रचनाओं में "ब्लैक स्किन व्हाइट मास्क" तथा 'दि रेचिड ऑफ द अर्थ' (The Wretched of the earth) में उपनिवेशवाद के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का विवेचन किया है। फैनन यह विश्वास करते हैं कि विदेशी संस्कृति और भाषा के कारण व्यक्ति अपने शरीर से भी अपने को अलग महसूस करते हैं। नवोदित देशों के व्यक्ति विदेशी भाषा और संस्कृति के कारण ये तो महसूस करते हैं कि उनके जैसा बन रहा हूं लेकिन मेरा काला शरीर उनके जैसा नहीं है। जहां व्यक्ति को खुद समझ नहीं आता कि उसकी पहचान क्या है? अतः उत्तर औपनिवेशिक राज्यों में पहचान का संकट दिखाई देता है, इससे बचने का एक ही तरीका है कि पूर्णतः क्रान्ति और हिंसा का प्रयोग किया जाए।

'एडवर्ड सईद' (Edward Said) ने अपनी कृति 'ओरियन्टलिज्म' के अन्तर्गत यह व्याख्या की है कि यह अवधारणा ओरियन्टलिज्म पश्चिमी देशों से आई है। इस अवधारणा से पश्चिमी देशों का नवोदित राज्यों के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त होता है। नवोदित राज्य हिंसक, अतार्किक, प्राचीन, कट्टर, निरकुंश हैं। इनकी सही पहचान तभी बन सकती है जब वे प्रगतिशील बनें और यह पश्चिमी प्रभाव से ही हो सकता है। पश्चिम की सहायता से ही हो सकता है।

होमी भाभा (Homi Bhabha) ने उत्तर औपनिवेशिक राज्यों की स्थिति को समझने के लिए 3 अवधारणायें प्रयोग की हैं–

वर्ण संकर (Hybridity)– इसके अन्तर्गत दो अलग–अलग तत्वों के संयोजन की स्थिति देखने को मिलती है। इसके अन्तर्गत होमी भाभा ने पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक मिश्रण की स्थिति को दर्शाया है।

दुविधा की स्थिति (Ambivalence)– इस अवस्था में पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक मिश्रण के कारण व्यक्ति असमंजस में रहता है कि मेरी वास्तविक पहचान क्या है?

अनुकरण की स्थिति (Nimiery)– उत्तर औपनिवेशिक राज्य अपनी प्रगति के लिए उपनिवेशवादी शक्तियों के मार्गों का अनुकरण करते हैं।

गायत्री स्पिवाक (Gayatri spivak) ने अपने चिन्तन 'कैन द सबआल्टर्न स्पीक' में वैश्विक स्तर पर मानवता के विरुद्ध जो बौद्धिक उपनिवेशवाद है, उसके खिलाफ आवाज उठाई। गायत्री स्पिवाक को प्रभावशाली पोस्टकोलोनियल बुद्धिजीवियों में से जाना जाता है।

1999 में प्रकाशित 'पोस्टकोलोनियल रीजन' की उनकी एक आलोचना इस बात पर बल देती है कि यूरोपीय तत्वमीमांसा पर जो ग्रन्थ लिखे गए हैं जैसे–काण्ट, हीगल इत्यादि के द्वारा, उनमें सवाल्टर्न यानी कि उपाश्रित वर्गों की उपेक्षा की गई है। ये मुख्यतः उन वर्गों पर ध्यान केन्द्रित करती हैं जो पश्चिमी संस्कृति के द्वारा आधार हीन किए गए हैं, या उनकी उपेक्षा की गई है, जैसे महिलायें, श्रमिक, दलित इत्यादि।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों को अपने उपनिवेशवादी शासकों से राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त हो गई है पर उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अभी भी खतरे बने हुए हैं। विश्व की महाशक्तियों ने इन राज्यों के शोषण के लिए ऐसे तरीके विकसित कर लिये हैं कि वे स्वाधीन होते हुए भी विवश हो जाते हैं। उपनिवेशवाद के बाद इन्हें नवउपनिवेशवाद का शिकार बनाया जा रहा है।

नवोदित राष्ट्रों के पास न तो पर्याप्त पूंजी है और न पर्याप्त तकनीकी विशेषज्ञ, इनका औद्योगीकरण भी नहीं हुआ है अतः इन्हें समृद्ध देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। विदेशी सहायता, विदेशी पूंजी, बहुराष्ट्रीय निगमों के कुचक्र में फंसकर ये राष्ट्र नवउपनिवेशवाद का शिकार हो रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

4. पॉलिटिकल कांटिनुइटी एंड चेंज' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

   (क) लोएंस्टाइन (ख) पीटर एच. मर्कल

   (ग) सैमुअल हंटिंगटन (घ) इनमें से कोई नहीं

5. डब्ल्यू. डब्ल्यू. रास्टोव ने आर्थिक संवृद्धि की कितनी अवस्थाओं की पहचान की?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

6. एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक 'ओरियन्टलिज्म' में नवोदित राज्यों के प्रति किन देशों के दृष्टिकोण को व्यक्त किया है?

   (क) पश्चिमी देश (ख) पूर्वी देश

   (ग) दक्षिणी देश (घ) एशियाई देश

4.4 राजनीतिक नेतृत्व

साधारण भाषा में नेतृत्व से आशय उस योग्यता से है जो अन्य लोगों में एक सामूहिक उद्देश्य का अनुसरण करने की इच्छा जाग्रत करती है। टीड के अनुसार– नेतृत्व उन गुणों के संयोग का नाम है जिनको रखने पर कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से काम लेने के योग्य होता है, विशेषकर जिसके प्रभाव द्वारा अन्य लोग स्वेच्छा से कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं। समाज विज्ञान में नेतृत्व संबंधी जो अध्ययन किये गये हैं उनमें नेतृत्व को लेकर अनेक धारणायें स्थापित की गई हैं।

सामान्यतया नेतृत्व के संबंध में मुख्यतया तीन धारणायें हैं–

(1) पहली धारणा के अनुसार नेतृत्व से विभिन्न परिस्थितियों एवं स्थानों (संगठनों) का नेतृत्व करने वाले उन व्यक्तियों का बोध होता है जो अन्य लोगों का नेतृत्व स्थिति, व्यक्तित्व तथा कार्य के कारण करते हैं। इस धारणा के अनुसार नेता के तीन वर्ग हैं : पहले वर्ग में वे नेता आते हैं जो अपनी स्थिति के कारण व्यक्तियों की अगुआई करते हैं जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि।

दूसरे वर्ग के नेता व्यक्तित्व के कारण लोगों की अगुआई करते हैं। सभी प्रधानमंत्री राष्ट्रपति स्थिति के कारण भी सफल नेतृत्व नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ व्यक्तित्व के नेता ही सफल हो पाते हैं, जैसे चर्चिल, नेहरू, रुजवेल्ट आदि। इनकी सफलता का आधार इनका व्यक्तित्व था।

तीसरे वर्ग में वे नेता आते हैं जो अपने कार्यों के कारण लोगों की अगुआई करते हैं। मेरी पार्कर फॉलेट ने इस प्रकार के नेताओं पर अधिक बल दिया है।

(2) नेतृत्व की दूसरी धारणा के अनुसार, नेतृत्व का आधार कुछ विशेष व्यक्तिगत विशेषतायें हैं। इस धारणा के अनुसार, नेतृत्व का गुण प्राकृतिक है और सभी लोगों में यह मौजूद नहीं रहता। मैक्सबेवर की करिश्मा प्रधान धारणा इसका एक प्रतिनिधि उदाहरण है।

(3) नेतृत्व की तीसरी धारणा उसकी भूमिका पर आधारित है।

नेतृत्व की प्रमुख विशेषताएं

नेतृत्व की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) **अनुयायियों को एकत्रित करना**– बिना अनुयायियों के नेतृत्व का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि नेता केवल अनुयायियों अथवा समूह पर ही अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

(2) **आचरण एवं व्यवहार को प्रभावित करना**– नेतृत्व प्रभाव के विचार की अपेक्षा करता है क्योंकि बिना प्रभाव के नेतृत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। नेतृत्व की सम्पूर्ण अवधारणा सब व्यक्तियों के एक–दूसरे के प्रभाव पर केन्द्रित है। अन्य व्यक्तियों के आचरण को प्रभावित करने से आशय उनसे अनुचित रूप से कार्य लेने से नहीं अपितु उन्हें इस प्रकार निर्देशन देना है जिससे उनमें समझदार, स्वहित वाली प्रतिक्रिया जाग्रत हो सकें।

(3) **पारस्परिक संबंध**– मेरी पार्कर फालेट ने नेता तथा अनुयायियों के मध्य पारस्परिक संबंध को नेतृत्व की प्रमुख विशेषता माना है। नेता वह नहीं है जो दूसरों की इच्छा को निर्धारित करता है, परन्तु वह है जो जानता है कि इच्छाओं को किस प्रकार अन्तर–सम्बन्धित किया जाये कि उनमें एक साथ मिलकर कार्य करने की प्रेरणा स्वतः जाग्रत हो सकें।

(4) **सामूहिक लक्ष्य**–नेतृत्व की यह प्रकृति एवं स्वभाव है कि वह अपने अनुयायियों के प्रयत्नों को सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु निर्देशित करता है।

राजनीतिक नेतृत्व अवधारणा के अध्ययन का महत्व

राजनीतिक नेतृत्व अवधारणा के अध्ययन का महत्व इस प्रकार है–

(1) आधुनिक युग में सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में संकट और संघर्ष की स्थिति दिखाई देती है। इस संकट और संघर्ष के समाधान के लिए देश की जनता कार्यपालिका नेतृत्व की ओर देखती है।

(2) आधुनिक युग में संसदात्मक तथा आर्थिक संस्थाओं के संघर्ष की स्थिति में कार्यपालिका नेतृत्व का महत्व बढ़ता जा रहा है। हरमन फाइनर तथा कार्ल जे. फ्रेडरिक जैसे विद्वानों ने इस तथ्य पर बल दिया है।

(3) संसदात्मक प्रणाली देशों में प्रधानमंत्री न केवल मन्त्रिमण्डल बल्कि राज्य के जन नेता के रूप में उदित होते जा रहे हैं।

(4) आधुनिक राजनीतिक दलों में केन्द्रीकरण की प्रवृति बढ़ती जा रही है और केन्द्रीय नेताओं का महत्व बढ़ गया है। इस कारण दल प्रणाली में राजनीतिक नेतृत्व भी अध्ययन का एक प्रमुख कारक हो जाता है।

(5) विकासशील राज्यों में व्यवसायिक राजनीतिज्ञों का शासन में प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है।

(6) आज जनता की भूमिका मतदाता, सार्वभौमिक सम्प्रभु तथा राजनीतिक लाभों के उपभोक्ता के रूप में परिवर्तित हो गई है। आज जनता सभी देशों में मुख्य कार्यपालिका के साथ प्रत्यक्ष तथा अन्तःक्रियात्मक सम्बंध स्थापित करना चाहती है।

उपरोक्त सभी कारणों से आधुनिक शासन व्यवस्थाओं में कार्यपालिका नेतृत्व की शक्ति में वृद्धि होती जा रही है।

नेतृत्व के अध्ययन की विभिन्न विधियां

आधुनिक राजनीतिशस्त्रियों द्वारा नेतृत्व के अध्ययन एवं विश्लेषण को अध्ययन पद्धति के आधार पर पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) सामाजिक स्तर एवं स्थिति के सन्दर्भ में नेतृत्व का अध्ययन– इस विधि से किये अध्ययनों में निम्नलिखित प्रश्नों के समाधान का प्रयास किया जाता है : सामाजिक तथा राजनीतिक संरचनाओं में किसे प्रसिद्धि प्राप्त हो रही है? समाज के किस स्तर से नेताओं का प्रादुर्भाव होता है? नेताओं में कौन–कौन से व्यवसायिक कौशल होते हैं। सामान्यतः इस विधि से किये गये अध्ययनों का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इन अध्ययनों में इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास किया जाता है कि राजनीतिक संगठन में किस हद तक प्रतिनिध्यात्मक एवं शक्ति का वितरण उपस्थित है।

(2) सामाजिक संरचनाओं अर्थात विभिन्न समूहों के सन्दर्भ में नेतृत्व का अध्ययन– सामाजिक संरचनाओं के विभिन्न प्रकारों के सन्दर्भ में नेतृत्व के अध्ययन की प्रेरणा कुर्त लेविन ने दी थी। लेविन ने अपने सहयोगियों के साथ विभिन्न लघु समूहों में अवस्थित नेतृत्व का प्रयोगात्मक अध्ययन जनतान्त्रिक, स्वेच्छाचारी एवं व्यक्तिवादी पर्यावरणों में किया। लघु समूहों में अवस्थित नेतृत्व के इन अध्ययनों से राजनीतिक विश्लेषण को कई लाभ हुए हैं–

(1) अनौपचारिक समूहों के नेताओं के अध्ययन से वृहत राजनीतिक दलों के आन्तरिक कार्यों को ठीक ढंग से समझा जा सकता है।

(2) राजनीतिक नेताओं द्वारा प्रयुक्त संचारणों को समझने के लिए लघु समूहों में अवस्थित नेताओं की भूमिका का अच्छा योगदान रहा है।

(3) इन अध्ययनों से मुख्य कार्यपालिकाओं की आन्तरिक कार्य प्रक्रियाओं जैसे, आन्तरिक मन्त्रिमण्डल की धारणा को समझने में सरलता होती है।

(4) लघु समूहों के अध्ययनों के आधार पर लोक प्रशासकीय अभिकरणों और दबाव समूहों का अच्छा विश्लेषण हो सकता है।

(3) संगठनात्मक कार्य तथा संस्थात्मक स्थिति के सन्दर्भ में नेतृत्व का अध्ययन– इस सन्दर्भ में नेतृत्व के अध्ययन को औपचारिक, औद्योगिक संगठनों में अवस्थित नेताओं के अध्ययन तक सीमित कर दिया गया है। किन्तु इन अध्ययनों से

प्राप्त निष्कर्षों का उपयोग राजनीतिक नेतृत्व पर भी किया गया है। नेतृत्व को इस विधि से विश्लेषित करने का श्रेय एल्टन मेयो को दिया जाता है। इन अध्ययनों से उन औपचारिक संरचनाओं पर प्रकाश पड़ा है जो किसी भी औपचारिक संगठन में अन्तर्निहित होती हैं।

(4) व्यक्तित्व के प्रकार के आधार पर राजनीतिक नेतृत्व का अध्ययन– राजनीति शास्त्र में अधिकांश विद्वानों ने इस विधि द्वारा नेतृत्व का विश्लेषण किया है। अर्नेस्ट क्रेट्स्मर तथा एडवर्ड स्प्रेन्गर ने इस विधि से राजनीतिक विश्लेषण का प्रारम्भ किया। आधुनिक राजनीतिशास्त्र में हेराल्ड लासवेल ने अपनी पुस्तक 'साइकोपैथॉलॉजी एण्ड पॉलिटिक्स' में उसने मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले हैं–

राजनीतिक व्यक्तित्व ने व्यक्तित्व मनोभावनाओं को सार्वजनिक उद्देश्यों में परिणत कर सार्वजनिक कल्याण के रूप में उनका विवेकीकरण कर दिया है। किन्तु बाद में लासवेल ने नवनिर्धारित 'चारित्रिक संरचना' की धारणा का प्रयोग कर अपनी पुरानी मान्यताओं का संशोधन किया है। इस आधार पर उसने राजनीतिक कार्यात्मक, जैसे सिद्धान्तवादी, नौकरशाह, आन्दोलनकर्ता इत्यादि व्यक्तित्वों की कल्पना की है। इसे 'राजनीतिक प्रकार' की धारणा कहा जाता है। इस धारणा को परिभाषित करते हुए उसने उन शक्ति के इच्छुकों को सम्मिलित किया है जो समाज के उन सत्ता केन्द्रों में शक्ति की खोज करते हैं जिनमें उनकी उत्पत्ति हुई है तथा जिनमें उन्होंने शक्ति प्राप्ति तथा शक्ति प्रयोग की शिक्षा ग्रहण की है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक कर्ताओं के सभी व्यवहारों की व्याख्या की जाती है।

(5) राजनीतिक जीवनी के सन्दर्भ में नेतृत्व का विश्लेषण एवं अध्ययन– नेतृत्व के अध्ययन एवं विश्लेषण की एक विधि जीवन या जीवनकथा के माध्यम से नेताओं को समझाना है। भारत में भी नेहरू, गांधी, सरदार पटेल, लाल बहादुर शास्त्री इत्यादि की जीवन कथाओं से उनके व्यक्तित्व, सामाजिक स्थिति एवं उन घटनाओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है जिनके कारण वे राष्ट्रीय स्तर के नेता के रूप में सामने आये हैं।

नेतृत्व के प्रकार

भिन्न–भिन्न विचारकों ने नेतृत्व के विभिन्न प्रकार बताये हैं–टेरी ने नेतृत्व के छः प्रकार बताये हैं–

(1) व्यक्तिगत नेतृत्व, (2) अव्यक्तिगत नेतृत्व, (3) आदेशात्मक नेतृत्व, (4) लोकतान्त्रिक नेतृत्व, (5) पैतृकवादी नेतृत्व तथा (6) स्थानीय नेतृत्व।

क्रिस एरगाइरिस ने तीन प्रकार के नेताओं में अन्तर किया है–

(1) निदेशक (2) अनुज्ञात्मक या अनुमतिबोधक (3) सहयोगी।

सामान्यतः नेतृत्व के निम्न प्रकार देखने को मिलते हैं:–

(1) **अधिनायकीय नेतृत्व**– यह एक ऐसा नेतृत्व है जिसके अन्तर्गत अनुयायी भयवश कार्य करते हैं। अधीनस्थ वही कार्य करते हैं जिसे करने के लिए कहा जाता है। ऐसा नेता अपने अधीनस्थों में दण्ड की भावना भर देता है। जिससे

टिप्पणी

लोगों में नौकरी के छूटने, पदावनति, मजदूरी में कमी आदि का भय बना रहता है। अस्थाई रूप से ऐसा नेतृत्व कुछ समय के लिए तो सफलता प्राप्त कर लेता है परन्तु दीर्घकाल के लिए ऐसा नेतृत्व असफल हो जाता है।

(2) **स्वेच्छाचारी नेतृत्व**– स्वेच्छाचारी नेतृत्व अधिनायकवादी नेतृत्व से इस अर्थ में भिन्न है कि यह अपने अधीनस्थों की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के अवसर प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है, यदि उसके अधीनस्थ उसकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं। परन्तु इस प्रकार का नेता सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में रखता है तथा समस्त शक्ति और निर्णय लेने का अधिकार उसी में केन्द्रित होता है। ऐसा नेता निर्णयन प्रक्रिया में अपने अधीनस्थ की भागीदारी की अनुमति नहीं देता और इस बात को भी सहन नहीं करता कि उसके अनुयायी उसकी आज्ञा का उल्लंघन करें। ऐसे नेतृत्व से भी अपेक्षित परिणाम तो प्राप्त हो जाते हैं लेकिन इसका मुख्य दोष यह है कि जब तक नेतृत्व अच्छा होगा तब तक तो अनुयायियों के हितों की रक्षा होगी और नेता कमजोर और अकुशल होगा तो उसके अनुयायी भी अकुशल होंगे।

(3) **स्वच्छन्दतावादी नेतृत्व**– यह एक ऐसे प्रकार का नेतृत्व है जिसमें नेता अपने अनुयायियों तथा अधीनस्थों के साथ सम्पर्क नहीं रखकर उन्हें अपने लक्ष्य निर्धारित करने तथा स्वयं निर्णय लेने के लिए अवसर प्रदान करता है। ऐसा नेता मार्गदर्शन नहीं देता। इस प्रकार वह आज्ञा देने के अयोग्य होता है। फलतः सम्पूर्ण संगठन में अव्यवस्था पाई जाती है, क्योंकि यह व्यक्तियों को विभिन्न दशाओं में कार्य करने की अनुमति प्रदान करता है। ऐसा नेतृत्व उसी स्थिति में सफल हो सकता है जबकि अधीनस्थ पूर्णतया समझदार तथा कर्तव्य के प्रति निष्ठावान हो।

(4) **लोकतान्त्रिक नेतृत्व**– लोकतान्त्रिक विचारों का नेता ऐसा व्यक्ति होता है जो कि समूह के साथ विचार–विमर्श करके नीतियों का निर्माण करता है। इस प्रकार के नेतृत्व की अवधारणा अधिकार तथा निर्णयन के विकेन्द्रीयकरण पर आधारित है। एक लोकतान्त्रिक नेता अपने अनुयायियों को एक सामाजिक इकाई के रूप में कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है। समूह के सदस्यों की निपुणताओं और योग्यताओं का पूरा लाभ उठाता है। ऐसा नेता अपने अधीनस्थों की आवश्यकताओं और रुचियों को समझता है और उनके साथ दया व निष्ठापूर्वक व्यवहार करता है।

नेतृत्व के कार्य

एक नेता को निम्नलिखित प्रमुख कार्य करने पड़ते हैं–

(1) **अधीनस्थों की भावनाओं एवं समस्याओं को समझना**– लोकतान्त्रिक समाज में कर्मचारियों की भावनाओं एवं समस्याओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। सफल नेतृत्व के लिए यह आवश्यक है कि नेता को अपने समूह के सदस्यों एवं अपने अधीनस्थों की भावनाओं एवं समस्याओं को अच्छी तरह समझना चाहिये।

(2) **सहयोग प्राप्त करना**– एक प्रशासनिक संगठन में संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति समस्त कर्मचारियों के सहयोग से ही सम्भव है। अतः आवश्यक

टिप्पणी

है कि एक नेता को सफल होने के लिए अपने समूह के कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त हो। इसके लिए उसे प्रशासक के रूप में अपने अधीनस्थ का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है।

(3) **समन्वय एवं निर्देशन**– सफल नेता का एक प्रमुख कार्य अपने अधीनस्थों के कार्यों में आदेश एवं निर्देशन द्वारा समन्वय स्थापित करना है। इसके लिए सम्प्रेषण क्रिया को प्रभावी बनाना पड़ता है।

(4) **अनुशासन बनाये रखना**– नेता का चौथा कार्य अपने समूह में अनुशासन बनाये रखना भी है क्योंकि अनुशासन द्वारा ही अपने अधीनस्थों को निर्धारित नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। और कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अनुशासन में निहित शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

(5) **आदेश देना**– नेता स्वयं कार्य न करके अपने अधीनस्थों से कार्य लेता है। अतः उनके द्वारा कार्य को सम्पादित कराने हेतु उसे आदेश देना पड़ता है।

(6) **प्रभावी सम्प्रेषण की व्यवस्था करना**– संगठन की गतिविधियों में सामंजस्य एवं संतुलन बनाये रखने के लिए और कर्मचारियों में मधुर संबंधों एवं भाईचारे का वातावरण स्थापित करने के लिए प्रबन्धकों को सम्प्रेषण की उचित व्यवस्था करनी पड़ती है। इस दिशा में नेता ही इस प्रकार की संप्रेषण की व्यवस्था करता है, जिससे अधीनस्थों और उसके मध्य विचारों, आदेशों आदि का निरन्तर आदान प्रदान होता रहे।

(7) **संगठन के प्रति निष्ठा बनाये रखना**– एक कुशल नेता का यह भी प्रमुख कार्य है कि वह अपने अधीनस्थों में संगठन के प्रति निष्ठा बनाये रखे। यह उसी स्थिति में हो सकता है जबकि वह कर्मचारियों से सम्बन्धित निर्णय प्रक्रिया में, संगठन के उद्देश्यों को निर्धारित करने में कर्मचारियों को भागीदार बनाये तथा कर्मचारियों की आवश्यकताओं एव समस्याओं को समाधान हेतु प्रेरित करता रहे।

नेतृत्व की तकनीकें

नेतृत्व की प्रमुख तकनीकों में निम्न को सम्मिलित किया जाता है–

(1) **सहयोग प्राप्ति**– नेता अपने समूह से सहयोग प्राप्त करता है। सहयोग द्विमार्गीय प्रक्रिया होती है। अधिकारी और समूह दोनों के सहयोग से ही कार्य को सर्वश्रेष्ठ ढंग से पूरा करना सम्भव है।

(2) **शक्ति का प्रयोग**– नेतृत्व के साथ शक्ति जुड़ी होती है। इस शक्ति का प्रयोग न्यायिक एवं सहानुभूतिपूर्ण तरीके से भी किया जा सकता है। और बल एवं उत्पीड़न के द्वारा भी किया जा सकता है। एक समझदार नेता अपनी शक्ति का प्रयोग उपक्रम और समूह के हित साधन में करता है।

(3) **समन्वय एवं आदेश**– वांछित परिणाम की प्राप्ति के लिए नेता आदेशों के माध्यम से अपने अधीनस्थों के कार्यों में समन्वय स्थापित करता है।

(4) **अनुशासन अनुरक्षण**– अनुशासन एक प्रकार का बल है जो समूह के प्रत्येक सदस्य को समूह के नियमों, प्रथाओं, आदतों, परम्पराओं के अनुसार उत्पन्न परिस्थितियों में वैयक्तिक एवं सामूहिक व्यवहार को निर्धारित करता है।

टिप्पणी

नेतृत्व की विचारधाराएं

नेतृत्व के संबंध में अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। इन विचारधाराओं को नेतृत्व अध्ययन के दृष्टिकोण अथवा उपागम कहा जाता है। नेतृत्व संबंधी प्रमुख विचारधारायें निम्न हैं–

(1) **महान व्यक्ति दृष्टिकोण**– यह दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि 'नेता पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते'। यह विचारधारा इस बात में विश्वास रखती है कि 'नेता नेता है' और हर तरह से योग्य है। इस विचारधारा के समर्थ अधिकारी विकास की धारणा में विश्वास नहीं करते। नेतृत्व की सफलता के मूल्यांकन के लिए वे नेता के व्यवहार एवं उसकी ही कार्यविधियों के अध्ययन एवं विश्लेषण में कोई रुचि नहीं रखते।

(2) **गुण दृष्टिकोण**– 'गुण' विचारधारा महान व्यक्ति दृष्टिकोण से भिन्न है। गुण दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि सफल नेतृत्व नेता की व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं पर आश्रित होता है और उन विशेषताओं व गुणों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन व विश्लेषण सम्भव होता है। 'महान व्यक्ति दृष्टिकोण' जहां नेतृत्व की सफलता के आधारों के अध्ययन की आवश्यकता पर समुचित बल देता है। 'गुण दृष्टिकोण' में न केवल अधिकारी नेता के व्यक्तिगत गुणों का विश्लेषण किया जाता है बल्कि नेतृत्व की सफलता के साथ उन गुणों का संबंध स्थापित करने का भी प्रयास किया जाता है।

(3) **पारिस्थितिक दृष्टिकोण**– इस दृष्टिकोण का विकास आर.एम. स्टागडिल एवं उनके सहयोगियों द्वारा किया गया है। यह विचारधारा इस तथ्य पर बल देती है कि नेतृत्व की सफलता उस परिस्थिति विशेष से प्रभावित होती है जिसमें नेता कार्य करता है। नेतृत्व की सफलता के अध्ययन में परिस्थिति विशेष का विश्लेषण महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(4) **व्यवहार दृष्टिकोण**–व्यवहार दृष्टिकोण में नेता के व्यक्तिगत गुणों और उसकी विशेषताओं के स्थान पर उसके व्यवहार के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है। व्यवहार से अभिप्राय नेता द्वारा किये जाने वाले कार्य और नेतृत्व विश्लेषण के इस दृष्टिकोण में अधिकारियों द्वारा नियोजन, अभिप्रेरणा एवं संचार में लगाया जाने वाला समय और विधि का अध्ययन सम्मिलित है।

(5) **सांयोगिक दृष्टिकोण**– इस दृष्टिकोण का विकास एफ.ई. फीडलर और उनके सहयोगियों द्वारा किया गया है। यह विचारधारा कुछ अंशों में 'गुण दृष्टिकोण' और 'पारिस्थितिक दृष्टिकोण' का मिश्रण है। फीडलर की यह मान्यता कि कोई भी व्यक्ति केवल अपने व्यक्तित्व संबंधी गुणों के आधार पर ही नेता नहीं बन सकता। नेता बनाने में विभिन्न परिस्थिति संबंधी घटकों और नेता एवं परिस्थिति के मध्य होने वाली अन्तःक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(6) **जीवन चक्र दृष्टिकोण**– ए.के. कोरमैन इस दृष्टिकोण के प्रणेता हैं। यह 'ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी के अध्ययनों' का परिणाम है। इस दृष्टिकोण में नेता की विशेषताओं तथा परिस्थिति के स्थान पर अनुयायियों की महत्ता पर बल दिया गया है। इसकी मान्यता के अनुसार नेतृत्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक 'अनुयायी' होते हैं। इस विचारधारा की यह मान्यता है कि किसी नेता के अनुयायियों में परिपक्वता के स्तर में वृद्धि के साथ नेता को अपने व्यवहार में

टिप्पणी

उसी के अनुरूप परिवर्तन करना आवश्यक होता है। परिपक्वता का सीधा संबंध आयु से न होकर मनोविज्ञान से है।

(7) **अनुयायी दृष्टिकोण**– यह दृष्टिकोण भी अनुयायियों के अध्ययन पर बल देता है। इस विचारधारा का प्रतिपादन एफ.एच. सेन्सफोर्ड द्वारा किया गया है। इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि अनुयायियों की कुछ प्राथमिक आवश्यकतायें होती हैं और जो व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति करवाने में सबसे अधिक रुचि लेकर अनुयायियों की सहायता करता है उसी को अनुयायी अपना नेता मान लेते हैं।

अतः नेतृत्व एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा अन्य व्यक्तियों को एक निर्धारित लक्ष्य की ओर ले जाने की क्रिया को कह सकते हैं, किन्तु इसमें दबाव का अंश नहीं होना चाहिये। नेता वह है जो समूह में ऊर्जा भर सकता है जो पहल को आगे बढ़ाना जानता है, वह जानता है कि प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार योगदान कैसे लिया जा सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. नेता तथा अनुयायियों के मध्य पारस्परिक संबंध को किसने नेतृत्व की प्रमुख विशेषता माना है?

   (क) सीमोर लिप्सेट (ख) मेरी पार्कर फॉलेट

   (ग) फ्रैन्ट्ज फैनन (घ) पर्किन्स

8. टेरी ने नेतृत्व के कितने प्रकार बताए हैं?

   (क) चार (ख) पांच

   (ग) छह (घ) आठ

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (ख)
5. (घ)
6. (क)
7. (ख)
8. (ग)

4.6 सारांश

20वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के अधिकांश उपनिवेशों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना पड़ा। प्रारम्भ में कुछ देशों में सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों ने

सुधारों की मांग करना प्रारम्भ किया किन्तु धीरे–धीरे राष्ट्रवाद के उदय के कारण औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हुआ। विभिन्न देशों में आन्दोलन का नया नेतृत्व उभरकर आया तथा अब मध्यम वर्ग भी इससे जुड़ गया। जन आन्दोलन उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष का अन्तिम चरण था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के पराधीन राज्यों को जब स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो उनका आर्थिक एवं राजनीतिक विकास का स्तर बहुत नीचा था। जातीय, धार्मिक, भाषाई, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और आर्थिक आधार पर नवोदित राज्य बंटे हुए थे, कानून की मूल चेतना इन देशों में विकसित नहीं हो पाई थी। इन समस्याओं के निदान और इनके राजनीतिक–आर्थिक विकास के लिए उदारवादी मार्क्सवादी एवं नवमार्क्सवादी, विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं। तीसरी दुनिया के देशों को राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त हो गई लेकिन नवउपनिवेशवावाद के शिकंजे से बाहर निकलना इनके लिए एक महत्वपूर्ण चुनौती है।

उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का अभिप्राय है उपनिवेश देशों में साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ संघर्ष जो अधिकांशतः 20वीं शताब्दी की पहली छमाही के दौरान हुआ। यूरोपीय देशों के अधिकतर उपनिवेशों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना पड़ा। यद्यपि इन संघर्षों की पद्धति एक समान नहीं थी, न ही उनके संघर्ष के साधन एक जैसे थे और न ही इनकी समयावधि एक थी परन्तु आमतौर पर इन्हें एक जैसा ही कहा जाता है। इनकी एक महत्वपूर्ण पहचान थी कि ये यूरोपियन शक्तियों के प्रभुत्व के विरुद्ध चलाये गये आन्दोलन थे।

उत्तर औपनिवेशिक राज्य ऐसे राष्ट्रीय राज्य हैं जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशवादी शिंकजे से मुक्त हुए थे। इस प्रक्रिया को वि–औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के रूप में भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के वे देश आते हैं जिन्हें उपनिवेशवादी प्रभुत्व से राजनीतिक स्वाधीनता दूसरे विश्व युद्ध के बाद प्राप्त हुई है। लैटिन अमेरिका के देशों को स्पेन के प्रभुत्व से स्वतन्त्रता 19वीं शताब्दी के दूसरे तीसरे–दशक में ही प्राप्त हो गई थी। लेकिन वे काफी समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में रहे। एशिया, अफ्रीका के नवोदित राज्यों ने जब अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयास करने शुरू किये तो लैटिन अमेरिका के ये देश भी उनके साथ आ गये। इन देशों को तीसरी दुनिया के देशों के रूप में भी जाना जाता है। ये देश औपनिवेशिक प्रभावों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाये हैं। इन राज्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन पर अभी भी औपनिवेशिक प्रभाव दिखाई देता है। वर्तमान में ये राज्य नवउपनिवेशवाद का शिकार हो रहे हैं।

नवमार्क्सवादी लेखकों ने अपने पराश्रितता सिद्धान्त (Dependency Theory) के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि नवोदित राज्यों का सामाजिक और आर्थिक विकास बाह्य शक्तियों से नियन्त्रित हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय के स्तर पर शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभुत्व है।

पराश्रितता सिद्धान्त इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि औपचारिक उपनिवेशवाद तो अब अस्तित्व में नहीं है परन्तु आर्थिक या नवउपनिवेशवाद आज भी बना हुआ है। समृद्ध देश नवोदित राज्यों में पूंजी निवेश करके उन्हें कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और

तैयार माल के बाजार के रूप में प्रयोग करते हैं। इस प्रकार पुरानी उपनिवेशवादी शक्तियों को उपनिवेशवाद का आर्थिक लाभ पहले की तरह प्राप्त हो जाता है।

उत्तर औपनिवेशिक राज्यों को अपने उपनिवेशवादी शासकों से राजनीतिक स्वाधीनता तो प्राप्त हो गई है पर उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अभी भी खतरे बने हुए हैं। विश्व की महाशक्तियों ने इन राज्यों के शोषण के लिए ऐसे तरीके विकसित कर लिये हैं कि वे स्वाधीन होते हुए भी विवश हो जाते हैं। उपनिवेशवाद के बाद इन्हें नवउपनिवेशवाद का शिकार बनाया जा रहा है।

साधारण भाषा में नेतृत्व से आशय उस योग्यता से है जो अन्य लोगों में एक सामूहिक उद्देश्य का अनुसरण करने की इच्छा जाग्रत करती है। टीड के अनुसार– नेतृत्व उन गुणों के संयोग का नाम है जिनको रखने पर कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से काम लेने के योग्य होता है, विशेषकर जिसके प्रभाव द्वारा अन्य लोग स्वेच्छा से कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं। समाज विज्ञान में नेतृत्व संबंधी जो अध्ययन किये गये हैं उनमें नेतृत्व को लेकर अनेक धारणायें स्थापित की गई हैं।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **साम्राज्यवाद** : यह एक ऐसी स्थिति है कि जिसके अन्तर्गत कोई शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे देश के भूभाग पर विजय प्राप्त करके उसे अपने क्षेत्र के साथ मिला लेता है।
- **राष्ट्रवाद** : राष्ट्रवाद एक ऐसी भावना है जिससे राष्ट्र के प्रति लगाव का संकेत मिलता है।
- **स्वराज्य** : विदेशी प्रभुत्व से पूर्णतः स्वतन्त्र देश स्वराज्य से तात्पर्य साधारणतः स्वशासन से होता है।
- **राष्ट्र–निर्माण** : पूरे राष्ट्र के लोगों के लिए निष्ठा का एक ही केन्द्र विकसित करना। नागरिक सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति निष्ठावान हों।
- **राज्य–निर्माण** : इसका अर्थ है, शक्ति का ऐसा केन्द्र विकसित करना जो सम्पूर्ण राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम कर सके, सब जगह अपने आदेश लागू करा सके।
- **बहुदलीय** : किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दो से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व होना।
- **शीतयुद्ध** : यह सोवियत संघ तथा अमेरिका के मध्य विचारधारा का युद्ध था इसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से नीचा दिखाने का प्रयत्न करता था।
- **वैधता** : कानून की दृष्टि से उचित होना। किसी नियम या कानून की वैधता उसकी सामाजिक स्वीकृति का संकेत देती है।
- **विनिमय** : आदान–प्रदान
- **सांस्कृतिक प्रभुत्व** : विदेशी मूल्यों, आचार–विचार व्यवहार का अन्य देश की संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं पर आधिपत्य।

टिप्पणी

- **विदेशी सहायता** : विकासशील देशों को अपने विकास के लिए विकसित देशों या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जो धन सस्ती ब्याज दरों पर उपलब्ध कराया जाता है, उसे विदेशी सहायता की संज्ञा दी जाती है।
- **स्वेच्छा** : अपनी इच्छा।
- **प्रादुर्भाव** : उत्पत्ति या उद्‌भव
- **लघुसमूह** : छोटे समूह।
- **सम्प्रेषण** : संचार

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष पर टिप्पणी लिखिये।
2. उत्तर–औपनिवेशिक मूल्यों की प्रकृति को स्पष्ट कीजिए।
3. उत्तर–औपनिवेशिक राज्यों के विकास के सन्दर्भ में डब्ल्यू.डब्ल्यू. रॉस्टोव के विचारों का उल्लेख कीजिये।
4. राजनीतिक नेतृत्व अवधारणा के अध्ययन का महत्व बताइये।
5. राजनीतिक नेतृत्व के कार्यों का वर्णन कीजिये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के प्रमुख चरणों का वर्णन कीजिए।
2. उत्तर–औपनिवेशिक राज्यों के सन्दर्भ में मार्क्सवादी–नवमार्क्सवादी एवं उपाश्रित वर्गीय दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।
3. नेतृत्व की विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण कीजिये।
4. नेतृत्व के अध्ययन के विभिन्न विषयों को बताते हुए नेतृत्व के प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
5. 'उत्तर–औपनिवेशिक राज्य' की अवधारणा की समीक्षा कीजिए।

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अरोड़ा एन.डी., आनन्द आर.के., "राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त", साहित्य भवन पब्लिशर्स, आगरा।
2. गेना, सी.बी., "तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें" विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली।
3. वर्मा, एस.एल., "उच्चतर आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त" नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।

टिप्पणी

4. शर्मा, एम.पी., सदाना बी.एल. "पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस", किताब महल पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
5. शर्मा, प्रभुदत्त, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें" कालेज बुक डिपो, जयपुर।
6. जौहरी, जे.सी. "तुलनात्मक राजनीति" स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई दिल्ली।
7. गाबा, ओमप्रकाश, "तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा", मयूर पेपर वैक्स नोएडा।
8. डॉ. धर्मवीर, "राजनीतिक समाजशास्त्र", राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

इकाई 5 राजनीतिक संस्थाएं, नव सामाजिक आंदोलन, लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राजनीतिक संस्थाएं
5.3 नव सामाजिक आंदोलन
5.4 लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन का प्रारंभ राज्य और सरकार जैसी संस्थाओं के अध्ययन से प्रारंभ हुआ। परंपरागत रूप से इसमें राज्य, सरकार और अन्य राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था लेकिन राजनीति विज्ञान और तुलनात्मक राजनीति के विकास के साथ–साथ इसमें उन सभी शक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनात्मक ढांचों का अध्ययन किया जाने लगा जिनसे समाज में सुव्यवस्था की स्थापना, अपने सदस्यों के साथ अन्य सामूहिक कार्यों के संपादन तथा उनके मतभेदों का समाधान करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

व्यवहारवादी क्रांति की प्रतिक्रियास्वरूप तुलनात्मक राजनीति में नवसंस्थावादी दृष्टिकोण उभरकर आया जिसमें राजनीतिक संस्थाओं के उनके सामाजिक–आर्थिक सांस्कृतिक परिवेश में अध्ययन पर बल दिया गया। समकालीन तुलनात्मक राजनीति के अंतर्गत नवोदित राज्यों में उभरती हुई लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के अध्ययन पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है जिसे हंटिंगटन ने लोकतंत्र की तीसरी लहर का नाम दिया है। उत्तर आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में उन समूहों के अध्ययन पर बल दिया जाता है जिनका राजनीति से कोई संबंध नहीं है। ऐसे समूहों में महिलाओं, अश्वेतों, पर्यावरणवादियों इत्यादि समूहों को सम्मिलित किया जाता है। उपरोक्त समूहों के आंदोलनों को नव सामाजिक आंदोलनों की श्रेणी में रखा जाता है।

प्रस्तुत इकाई में राजनीतिक संस्थाओं के अभिप्राय, राजनीतिक संस्थाओं के प्रकार, नवसंस्थावाद, नए सामाजिक आंदोलनों की विशेषताएं, लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें एवं नवीन प्रवृत्तियों आदि तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक संस्थाओं के अभिप्राय एवं नवसंस्थावाद से परिचित हो पाएंगे;
- नवसामाजिक आंदोलन की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाएंगे;
- नव सामाजिक आंदोलनों की विशेषताओं को समझ पाएंगे;
- लोकतांत्रिक विस्तार की तीसरी लहर के संबंध में हंटिंगटन के विचारों का विश्लेषण कर पाएंगे।

5.2 राजनीतिक संस्थाएं

राजनीतिक विज्ञान में प्रारंभ से ही राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाता रहा है। राजनीति विज्ञान का परंपरागत दृष्टिकोण तो राज्य और सरकार यानी कि राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से ही संबंधित है। गार्नर का तो यहां तक कहना है कि राजनीतिक शास्त्र का प्रारंभ और अंत राज्य के साथ ही होता है।

तुलनात्मक राजनीति के जनक अरस्तू ने 158 देशों के संविधानों का अध्ययन कर संविधानों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

परंपरागत रूप से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन औपचारिक एवं कानूनी रूप से किया जाता रहा। राज्य और शासन अध्ययन के प्रमुख विषय थे। शासन या सरकार स्वयं एक संस्था है और इसके विभिन्न अंग जैसे कि संसद यानी कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका इत्यादि भी अपनी–अपनी तरह की संस्थाएं हैं। राजनीतिक दल वैसे तो गैरसरकारी संगठन हैं, परंतु वे राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरी ओर अधिकारी तंत्र और गैर राजनीतिक संगठन है, परंतु वह सरकार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

कानूनी औपचारिक दृष्टिकोण के अंतर्गत केवल शासन के विभिन्न अंगों की कानूनी स्थिति और शक्तियों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है, संस्थात्मक उपागम के अंतर्गत शासन और राजनीति से जुड़ी हुई सारी संस्थाओं के संगठन एवं भूमिका पर विचार किया जाता है। इस उपागम में राजनीति से जुड़े अनौपचारिक समूहों की भूमिका की अनदेखी कर दी जाती है। हालांकि ये समूह वास्तविक राजनीति को दूर–दूर तक प्रभावित करते हैं।

बर्नार्ड क्रिक की कृति 'रिफॉर्म ऑफ पार्लियामेण्ट' ब्रिटिश संसद का अध्ययन है तो बैली एवं सैमुअल की कृति 'कांग्रेस एट वर्क' में अमेरिका के संदर्भ में कांग्रेस की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया गया है। इनमें निर्दिष्ट राजनीतिक संस्थाओं के संगठन और कार्यप्रणाली का वर्णन देने के बाद यह सुझाव दिये गये हैं कि इनकी कार्यकुशलता कैसे बढ़ाई जाये।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व तक राजनीतिक अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओं का वर्चस्व था, किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक विज्ञान में व्यवहारवाद का आगमन हुआ और व्यवहारवादी क्रान्ति ने राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा तनाव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने पर बल दिया। यह स्थिति 1970 के प्रारंभ तक चलती रही जिसमें संस्थाओं के अध्ययन की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई।

राजनीतिक संस्थाओं के प्रकार

राजनीतिक संस्थाएं निम्न प्रकार की होती हैं–

1. **कठोर संस्थाएं**– ये वे संस्थाएं होती हैं जो औपचारिक नियमों से बंधी होती हैं और समाज की आधारभूत विशेषताओं, जैसे; स्वतंत्रता, समानता और पंथनिरपेक्षता का प्रतिनिधित्व करती हैं। जैसे राज्य, सरकार, संसद इत्यादि। वे समाज के सदस्यों के व्यवहार को निर्धारित करती हैं।
2. **नरम संस्थाएं**– ये संस्थाएं अनौपचारिक नियमों, प्रथाओं, परंपराओं के आधार पर कार्य करती हैं। ये अलिखित नियमों के आधार पर कार्य करती हैं। जैसे परिवार, विवाह इत्यादि। ये भी समाज में व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं।

राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर पुनः बल या पुनरुत्थान

1970–80 के दशकों में राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर पुनः बल दिया जाने लगा। 1977 में जॉन डब्ल्यू. मेयर और उनके एक छात्र ब्रायन रोवन के द्वारा प्रकाशित एक लेख द्वारा संस्थाओं के अध्ययन पर बल देकर संस्थावाद का पुनरुत्थान किया गया जिसे नवसंस्थावाद के रूप में जाना जाता है।

राजनीति विज्ञान में नवसंस्थावाद के प्रतिपादकों में दो राजनीतिक वैज्ञानिकों का नाम विशेष रूप से आता है–

1. जेम्स जी. मार्च
2. जोहान पी. ओल्सन

इन विद्वानों ने अपनी रचनाओं 'द न्यू इंस्टीट्यूशनलिज्म आर्गेनाइजेशनल फैक्टर्स इन पॉलिटिकल लाइफ' (1984), 'रिडिस्कवरिंग इंस्टीट्यूटः द आर्गेनाइजेशनल बेसिस ऑफ पॉलिटिक्स' (1989), तथा 'डेमोक्रेटिक गवर्नेन्स' (1995), में यह तर्क रखा कि राजनीतिक संस्थाओं में वैयक्तिक राजनीतिक अभिकर्ताओं के व्यवहार को समझने के लिए संस्थागत विश्लेषण आवश्यक है। मार्च और ओल्सन ने अपने अध्ययनों में राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के पुनरुत्थान के विभिन्न कारण बताये हैं।

इस नए संदर्भ में राजनीतिक संस्थाओं को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में अध्ययन करने पर बल दिया गया। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व संस्थाओं का कानूनी औपचारिक अध्ययन किया जाता था लेकिन नव संस्थावाद में यह माना जाता है कि संस्थाएं मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं इसलिए राजनीतिक अभिकर्ताओं के व्यवहार को समझने के लिए संस्थाओं का विश्लेषण आवश्यक है।

राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से संबंधित इस नये दृष्टिकोण को नव संस्थावाद के रूप में जाना है। संस्थाओं के अध्ययन के पुनरुत्थान के कारणों को मार्च और ओल्सन ने इस प्रकार बताया है–

1. सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थान 1970 और 1980 के दशक तक बहुत बृहत एवं जटिल हो गये थे। ये संस्थान संसाधनों से परिपूर्ण थे और मानव जीवन में इनका महत्व बहुत बढ़ गया था। इसलिए इनके अध्ययन का महत्व बढ़ गया।
2. राजनीति विज्ञान के कुछ विचार संप्रदायों जैसे नवमार्क्सवाद में एंटोनियो ग्रामशी और हर्बर्ट मार्क्यूजे ने राज्य और नागरिक समाज की संस्थाओं को नागरिकों पर प्रभुत्व स्थापित करने वाली संस्थाओं के रूप में अध्ययन किया। इसी प्रकार नव उदारवाद में राज्य की नकारात्मक एवं सकारात्मक भूमिका का अध्ययन किया गया।
3. 1970 में विभिन्न देशों में जो आर्थिक समस्याएं आईं उनका समाधान विभिन्न देश अपने–अपने तरीके से कर रहे थे। उनकी समस्याओं के समाधान के तरीके उन देशों की संस्थाओं की प्रकृति पर निर्भर थे। कुछ देशों में संसदीय व्यवस्था थी तो कुछ में अध्यक्षात्मक थी। विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के कारण संसद की राष्ट्रपति की भूमिका अर्थात संस्थाओं की भूमिका पर बल दिया जाने लगा।
4. तृतीय विश्व के देशों को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्वतंत्रता मिली। स्वतंत्रता के पश्चात इन देशों में संविधान पर आधारित संस्थाएं बनीं लेकिन ये संस्थाएं उतनी स्थिर एवं सफल नहीं हो पाईं जैसे कि पश्चिमी देशों में थीं। अतः 1970 के दशक में इन संस्थाओं के पुनर्निर्माण की ओर ध्यान दिया जाने लगा।

अतः उपरोक्त कारकों के कारण 'नवसंस्थावाद' का उदय होता है।

नवसंस्थावाद के प्रकार

नवसंस्थावाद के तीन मुख्य प्रकार हैं– ये प्रकार मुख्यतः राजनीतिक संस्थाओं से संबंधित हैं–

1. **तार्किक विकल्प संस्थावाद**– इसके अंतर्गत यह माना जाता है कि मनुष्य एक तार्किक प्राणी है। वह अपने तर्क का प्रयोग करता हुआ हानि और लाभ के आधार पर विभिन्न संस्थाओं की स्थापना करता है। जिन संस्थाओं से व्यक्ति को लाभ होता है, वह उन्हीं संस्थाओं की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहता है। इसके अंतर्गत संस्थाओं को नियमों और प्रेरक तत्वों की एक व्यवस्था माना जाता है। नियम इसलिए बनाये जाते हैं जिससे राजनीतिक नेताओं का एक समूह दूसरे का लाभ उठा सके।
2. **सामाजिक–सांस्कृतिक संस्थावाद**– इसके अंतर्गत संस्थाओं का अध्ययन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में करने पर बल दिया जाता है। सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। संस्थाएं हमारे समाज की परंपराओं, मूल्यों, प्रतीकों इत्यादि से जन्म लेती हैं, जैसे– परिवार, विवाह, जाति

इत्यादि। संस्थाएं हमारे समाज के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से बनती एवं परिवर्तित होती हैं।

3. **ऐतिहासिक संस्थावाद**– इस दृष्टिकोण को मानने वाले विद्वान यह मानते हैं कि वर्तमान संस्थाएं ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं। विद्यमान संस्थाओं की जड़ें किसी न किसी रूप में इतिहास से जुड़ी हुई हैं। वे विद्वान इतिहास को राजनीति विज्ञान का महत्वपूर्ण आयाम मानते हैं। यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि राजनीतिक संस्थाओं का अतीत में जन्म तथा विकास कैसे हुआ तथा वर्तमान स्वरूप उन्होंने कैसे प्राप्त किया है? वे इसका अध्ययन करना चाहते हैं। वे राजनीति को दुर्लभ संसाधनों के लिए संघर्ष के रूप में देखते हैं। वे विद्वान शक्ति और राजनीतिक संस्थाओं के मध्य अंतर करते हैं। वे मानते हैं कि राजनीतिक संस्थाएं अपनी पूर्ण कुशलता के साथ कार्य नहीं करतीं क्योंकि वे पहले के समय में संरचित की गई थीं। इसके अंतर्गत कठोर एवं नरम दोनों तरह की संस्थाएं आती हैं। वर्तमान संस्थाओं की जड़ ऐतिहासिक रूप से जुड़ी है। विभिन्न संस्थाओं का विकास और वर्तमान स्वरूप ऐतिहासिक विकास का परिणाम है।

नवसंस्थावाद की आलोचना

नवसंस्थावाद की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. परंपरागत संस्थावाद के अंतर्गत केवल कठोर संस्थाओं के अध्ययन पर बल दिया जाता था जबकि नवसंस्थावाद दोनों प्रकार की संस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है। इस संदर्भ में नवसंस्थावाद की यह आलोचना की जाती है कि इसका फोकस अभी भी कठोर संस्थाओं पर ही है।
2. नवसंस्थावाद के अंतर्गत संस्थाओं की उत्पत्ति के तीन आधार– तार्किक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक–सांस्कृतिक माने गये हैं लेकिन आलोचकों के अनुसार राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति की सही एवं पूर्ण व्याख्या के लिए ये आधार पर्याप्त नहीं हैं।
3. नवसंस्थावाद व्यक्तियों के व्यवहार को समझने के लिए केवल संस्थाओं के अध्ययन को ही पर्याप्त मानता है लेकिन यह अतिशयोक्तिपूर्ण है कि केवल संस्थाओं के आधार पर ही व्यक्ति के व्यवहार का पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता।

   उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति अपना विकास, अपने उद्देश्य विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से पूरा करता है। संस्थाओं के बिना मानव के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए संस्थाओं के अध्ययन भी उनकी उपयोगिता के कारण महत्वपूर्ण हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'रिफॉर्म ऑफ पार्लियामेंट' पुस्तक के लेखक का क्या नाम है?
   (क) बैली (ख) सैमुअल
   (ग) बर्नार्ड क्रिक (घ) गार्नर
2. बैली एवं सैमुअल की कृति 'कांग्रेस एट वर्क' में किसके संदर्भ में कांग्रेस की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया गया है?
   (क) ब्रिटेन (ख) अमेरिका
   (ग) फ्रांस (घ) इनमें से कोई नहीं
3. नवसंस्थावाद की कितनी प्रमुख शाखाएं हैं?
   (क) दो (ख) तीन
   (ग) चार (घ) पांच

5.3 नव सामाजिक आंदोलन

ये ऐसे सामाजिक आंदोलन हैं जो मानव जीवन में फैले हुए अन्याय के प्रति नई चेतना से प्रेरित होकर समकालीन विश्व के कुछ हिस्सों में उभर कर आये हैं। 1960–70 के दशक के प्रारंभ में सामाजिक आंदोलनों की नई लहर दिखाई देती है– यह वह समय था जब संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में सेनाएं वियतनाम में भूतपूर्व फ्रांसीसी उपनिवेश में साम्यवादी गुरिल्लाओं के विरुद्ध एक खूनी संघर्ष में लगी हुई थीं। यूरोप में, पेरिस विद्यार्थियों के जीवंत आंदोलन का केंद्र था जो युद्ध के विरुद्ध हड़तालों की एक श्रृंखला में कामगारों के दलों में सम्मिलित हो गये। अटलांटिक के दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका सामाजिक विरोध के उदय का अनुभव कर रहा था। मार्टिन लूथर किंग द्वारा चलाये गये आंदोलन के बाद मैलकम अश्वेत शक्ति आंदोलन चलाया गया। महिलाओं का आंदोलन तथा पर्यावरण आंदोलन से भी सामाजिक उथल–पुथल को बल मिला।

इन सामाजिक आंदोलनों के दो मुख्य दावे हैं–

1. उत्तर औद्योगिक अर्थव्यवस्था सामाजिक आंदोलनों की नई लहर के लिए उत्तरदायी है।
2. नव सामाजिक आंदोलन औद्योगिक अर्थव्यवस्था के सामाजिक आंदोलनों से पूर्णतः भिन्न हैं।

नव सामाजिक आंदोलनों की विशेषता यह है कि ये राजनीतिक जीवन के साधारण वितरण की समस्याओं से नहीं बल्कि स्वयं मानव जीवन की गुणवत्ता को उन्नत करने से हैं। इन आंदोलनों के संचालक राज्य–शक्ति पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं बल्कि वे विश्व को विवेकसम्मत रूप से

ढालना चाहते हैं। ये आर्थिक संपन्नता पर बल नहीं देते, बल्कि मानव अधिकारों से संबंधित मुद्दों पर बल देते हैं। जैसे समलैंगिक अधिकारों पर बल देना, शांतिवाद को बढ़ावा देना आदि।

नव सामाजिक आंदोलन सार्वजनिक नीति में परिवर्तनों पर बल देने के बजाय पहचान, जीवन शैली और संस्कृति में सामाजिक परिवर्तनों पर बल देते हैं। आर्थिक और राजनीतिक पक्षों की अपेक्षा नव सामाजिक आंदोलन में सामाजिक परिप्रेक्ष्य ज्यादा महत्वपूर्ण है। नव सामाजिक आंदोलन से जुड़े कुछ सिद्धांतकार, जैसे एफ. पार्किन अपनी कृति 'मिडिल क्लास रैडिक्लिज्म' में तर्क देते हैं कि इन आंदोलनों के अभिकर्ता निम्न वर्गों की अपेक्षा 'नव मध्यम वर्ग' से आते हैं। नव सामाजिक आंदोलन दबाव समूहों की तरह संगठित नहीं हैं बल्कि ये एक अनौपचारिक, ढीले–ढाले संगठन वाले समर्थकों का एक सामाजिक नेटवर्क है।

ब्रिटिश समाजशास्त्री पॉल बर्न (1997) ने नव सामाजिक आंदोलन को 'अपेक्षाकृत अव्यवस्थित' बताया है।

प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक, जैसे एलेन टॉयने, अर्नेस्टो लाक्लाऊ, चैंटल मुफ्फ, क्लॉस ऑफे, इमैनुएल वालरस्टीन, मैनुअल कॉस्टेल्स और विभिन्न दार्शनिक जैसे मिशेल फाडल्ट, जुरगेन हेबरमास और फेलिक्स गुआतारी प्रमुख हैं।

नव सामाजिक आंदोलनों की विशेषतायें

इन आंदोलनों की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं–

1. नव सामाजिक आंदोलनों की प्रमुख विशेषता यह है कि प्राथमिक रूप से ये सामाजिक एवं सांस्कृतिक हैं। राजनीतिक दृष्टि से इनका द्वितीय स्थान है। नये सामाजिक आंदोलन सांस्कृतिक नवाचारों की पहचान के परिवर्तन और नई जीवन शैलियों पर बल देने के लिए सामाजिक गतिशीलता पर बल देते हैं।

   हैबरमास द्वारा यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि नये सामाजिक आंदोलन 'नई राजनीति हैं' जो कि जीवन की गुणवत्ता, व्यक्तिगत, आत्मसाक्षात्कार और मानव अधिकारों के बारे में है जबकि 'पुरानी राजनीति' आर्थिक, राजनैतिक और सैन्य सुरक्षा पर केंद्रित थी।

2. नव सामाजिक आंदोलन उत्तर औद्योगिक समाज में उत्तर भौतिकवादी मूल्यों की भूमिका पर भी बल देता है। प्रमुख नव सामाजिक आंदोलन सिद्धांतकारों में से एक मेलुसी के अनुसार, समकालीन सामाजिक आंदोलन पूंजीवादी समाजों में उपभोक्तावाद के भौतिकवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं जिसमें यह माना जाता है कि खुशी और सफलता वृद्धि, उन्नति और वृहत उत्पादन से जुड़ी हुई है।

3. नये सामाजिक आंदोलन नागरिक समाज या सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रमुख रूप से स्थित हैं जो कि सामूहिक कार्यवाही पर बल देते हैं। क्लॉस ऑफे इसे 'By Pass

the State' (राज्य के बायपास) के रूप में चिह्नित करता है। राज्य को सीधे चुनौती देने के संदर्भ में इन्हें सत्ता विरोधी माना जाता है। वे एकल विषय या व्यापक विषय जैसे शांति और पर्यावरण जैसे मुद्दों पर ध्यान केंद्रित करते हैं। नये सामाजिक आंदोलनों ने सीमित या बहिष्कृत समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से ग्रासरूट स्तर पर अपना ध्यान केंद्रित किया।

4. यदि पुराना सामाजिक आंदोलन कामगार वर्ग के आंदोलन से संबंधित था तो नया सामाजिक आंदोलन एक भिन्न सामाजिक वर्ग पर आधारित है जो कि एक नया वर्ग है। क्लॉस ऑफे ने इसकी पहचान थ्रीफोल्ड के रूप में की है– 1. नया मध्यम वर्ग 2. पुराने मध्यम वर्ग के तत्व 3. श्रम बाजार के बाहर परिधीय समूह।

   ऑफे ने कहा था कि नया मध्यम वर्ग पुराने के साथ मिलकर नव सामाजिक आंदोलनों में विकसित होता है, क्योंकि उनकी शिक्षा उच्च स्तर की है तथा सूचना और संसाधनों तक उनकी पहुंच है। ऐसे लोगों का समूह जो श्रम बाजार में हाशिये पर हैं, जैसे छात्र, गृहणियां, बेरोजगार सामूहिक कार्यवाही में भाग लेते हैं। पुराने सामाजिक आंदोलनों में औद्योगिक वर्ग मुख्य चरित्र था लेकिन नई सामाजिक गतिशीलता में यह वर्ग अनुपस्थित है।

नव सामाजिक आंदोलनों की आलोचना

नव सामाजिक आंदोलनों की कई आधारों पर आलोचना की गई है–

1. यह आंदोलन गैर–भौतिकवादी मुद्दों से संबंधित है जो कि औद्योगिक अवधि के दौरान था और पारंपरिक आंदोलनों का संबंध आर्थिक कल्याण से था, यह आज भी मौजूद है।
2. नव सामाजिक आंदोलन मुख्यतः वामपंथ से संबंधित है। यह दक्षिण पंथ पर विचार नहीं करता।
3. नए मध्यम वर्ग की अवधारणा अस्पष्ट है। इसको निरंतरता के साथ परिभाषित नहीं किया गया है।
4. नव सामाजिक आंदोलन उत्तर औद्योगिक समाज के उत्पाद हैं, इस बात पर संदेह किया जाता है।
5. एक सिद्धांत की अपेक्षा सामाजिक आंदोलनों को निश्चित उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

   उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद नव सामाजिक आंदोलनों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। पशु अधिकार आंदोलन, परमाणु विरोधी आंदोलन, युद्ध विरोधी आंदोलन, पर्यावरणवादी आंदोलन, एल.जी.बी.टी. सामाजिक आंदोलनों के ऐसे उदाहरण हैं जो मानवता की रक्षा और विश्व को बेहतर बनाने के उद्देश्य से संचालित किये जा रहे हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

4. 'मिडिल क्लास रैडिक्लिज्म' के लेखक कौन थे?
   (क) एफ. पार्किन (ख) एलेन टॉयने
   (ग) क्लॉस ऑफे (घ) पॉल बर्न
5. नव मध्यम वर्ग की अवधारणा किससे संबंधित है?
   (क) पशु अधिकार आंदोलन (ख) पर्यावरणवादी आंदोलन
   (ग) नव सामाजिक आंदोलन (घ) युद्ध विरोधी आंदोलन
6. नव सामाजिक आंदोलन को 'अपेक्षाकृत अव्यवस्थित' किसने बताया?
   (क) अर्नेस्टो लाक्लाऊ (ख) पाल बर्न
   (ग) मैनुअल कास्टेल्स (घ) पार्किन

5.4 लोकतांत्रिक विस्तार की लहरें : नवीन प्रवृत्तियां

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के नवोदित देशों में जनसामान्य की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कई स्थानों पर लोकतंत्रीय प्रणाली की शुरुआत की गई, परंतु यह प्रणाली ज्यादा दिन स्थिर नहीं रह पाई और 1950 के दशक में कई जगह सैनिक विद्रोह हुए, सेना ने शासन संभाल लिया और सत्तारूढ़ शासकों को हटा दिया गया। तब से तीसरी दुनिया में सत्तावादी शासन की शुरुआत हो गई। 1960 और 1970 के दशक में कुछ और देशों में– विशेषतः कुछ अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देशों में– सेना ने सत्ता संभाल ली। इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों में तीसरी दुनिया के देशों में अलोकतंत्रीय प्रणालियों का सिलसिला शुरू हो गया। परंतु पिछले कुछ वर्षों में नवोदित देशों में सत्तावादी प्रणालियों का ह्रास हुआ है और लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था को बढ़ावा मिला है।

सैमुअल हंटिंगटन ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द थर्ड वेव : डेमोक्रेटाइजेशन इन द लेट ट्वेंटिएथ सेंचुरी' (तीसरी लहरः बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में लोकतंत्रीकरण की प्रवृत्ति) (1991) के अंतर्गत इस महत्वपूर्ण परिवर्तन को 'तीसरी लहर' की संज्ञा दी है।

लोकतंत्र की प्रथम लहर– लोकतंत्र की प्रथम लहर 1820 में शुरू हुई जो काफी लंबे समय तक चली। संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़ी संख्या में पुरुषों को मताधिकार देने से इसका प्रारंभ माना जाता है। यह स्थिति एक शताब्दी अर्थात 1926 तक मानी जाती है। 29 लोकतंत्रों की स्थापना हो चुकी थी। हालांकि 1922 में इटली में मुसोलिनी के सत्ता में आने के बाद प्रथम विपरीत लहर भी दिखाई देती है जब विश्व में लोकतांत्रिक राज्यों की संख्या घटकर 12 रह गई।

लोकतंत्र की दूसरी लहर– द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों के जीतने पर लोकतंत्रीकरण की दूसरी लहर दिखाई देती है जिसमें 1962 तक 36 देश लोकतांत्रिक ढंग से संचालित थे। 1960 से 1975 तक दूसरी विपरीत लहर के द्वारा विश्व के लोकतंत्रीय शासनों की संख्या घटकर 30 रह गई।

लोकतंत्र की तीसरी लहर– इस लहर की शुरुआत 1970 के दशक के मध्य में यूरोप में हुई जब वहां यूनान, स्पेन, पुर्तगाल में अधिनायकतंत्रों की जगह लोकतंत्र स्थापित हो गये। इन देशों में फिर से लोकतंत्र स्थापित हो जाने पर तीसरी दुनिया के लोकतंत्रवादियों ने वहां की अलोकतंत्रीय सरकारों पर उनकी वैधता पर प्रश्नचिह्न लगाना शुरू कर दिया। दक्षिणी यूरोप में लोकतंत्र के पुनरुत्थान के एक दशक बाद लैटिन अमेरिकी देशों में अधिनायकतंत्रीय सरकारों का पतन हुआ।

विश्व में लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर के विकसित होने के कारण

विश्व में लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर के विकसित होने के कारण निम्न हैं–

1. 1960 में वैश्विक आर्थिक वृद्धि हुई जिसने जीवन स्तर को बढ़ाया, शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिसके कारण बहुत से देशों में मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ। मध्यम वर्ग ने लोकतंत्र का समर्थन किया।
2. बाह्य अभिकर्ताओं विशेष रूप से यूरोपियन समुदाय, संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव लोकतंत्र को विकसित करने में दिखाई देता है।
3. तीसरी लहर के दौरान यूरोपियन समुदाय ने दक्षिणी यूरोप में लोकतंत्र को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ग्रीक, स्पेन और पुर्तगाल यूरोपियन समुदाय की सदस्यता के लाभों को प्राप्त कर सकें इसके लिए आवश्यक था कि वहां लोकतंत्र की स्थापना हो। लोकतंत्र की स्थिरता को समुदाय की सदस्यता की एक आवश्यक शर्त के रूप में देखा गया। ग्रीक शीघ्र ही यूरोपियन समुदाय का एक पूर्ण सदस्य बन गया और पांच वर्षों के पश्चात स्पेन और पुर्तगाल ने भी ऐसा ही किया।
4. 1960–70 के दशकों के बाद लैटिन अमेरिकी देशों में भी लोकतंत्रीय आंदोलन शुरू हुए। इससे पहले लैटिन अमेरिकी देशों में शासक वर्गों ने सारा ध्यान पूंजी के सर्वोत्तम उपयोग और औद्योगीकरण के विस्तार पर लगाया। यह कार्रवाई शहरी कामगार वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग की आशाओं के प्रतिकूल थी। ये वर्ग राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत सजग, सक्रिय और मुखर थे। वे यह चाहते थे कि सरकार को कल्याण कार्यक्रमों पर अधिक धन खर्च करना चाहिए। शासक वर्गों ने इनकी मांग पूरी करने के बजाय इनके दमन की योजना बनाई। अतः इन देशों में सैनिक वर्ग, बड़े–बड़े पूंजीपतियों और बड़े–बड़े जमींदारों ने मिलकर अपनी मिली–जुली सरकारें बनाईं। 1970–80 के दशकों में बढ़ते हुए विदेशी ऋण के कारण लैटिन अमेरिकी देशों में आर्थिक समृद्धि का ह्रास हुआ। आर्थिक व राजनीतिक संकटों के कारण

शासक, विशिष्ट वर्गों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। इस दौर में लोकतंत्रीय आंदोलन निचले स्तरों से शुरू हुए और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य लोकतंत्रीय देशों ने विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका ने उन्हें बढ़ावा दिया।

हंटिंगटन का दावा है कि पांच प्रमुख कारक हैं जो संयुक्त रूप से 1974 और 1991 के बीच लोकतंत्र की इस तीसरी लहर का कारण बने।

1. 1970 के दशक तक लोकतंत्र के सिद्धांतों एवं मूल्यों की व्यापक वैश्विक स्वीकृति थी। जिन देशों में सत्तावादी शासन थे उन्हें खुद को सत्ता में बनाये रखने के लिए अच्छे आर्थिक प्रदर्शनों पर निर्भर होना पड़ा। लोकतांत्रिक मूल्यों की व्यापक स्वीकृति के कारण नागरिकों की नजर में सत्तावादी शासन की वैधता का नुकसान हुआ।

   अप्रैल 1987 में तुर्की ने यूरोपियन समुदाय की पूर्ण सदस्यता के लिए आवेदन किया। तुर्की के नेताओं ने आधुनिक और लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया और तुर्की में इस्लामिक कट्टरवाद को बढ़ावा देने वाली प्रवृत्तियों को अलग–थलग कर दिया। 1990 में पूर्वी यूरोप की आजादी ने हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड की सदस्यता की संभावना को बढ़ाया।

   1970–80 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतंत्र को बढ़ावा देने वाले प्रमुख अभिकर्ताओं में था। 1970 के मध्य से पहले लोकतंत्र को बढ़ावा देना अमेरिकी विदेश नीति की एक प्राथमिकता नहीं थी।

   मध्य अमेरिका और कैरेबियन देशों के अलावा तृतीय विश्व के देशों में पारस की खाड़ी ऐसा क्षेत्र है जहां अमेरिका ने अपना महत्वपूर्ण रूझान दिखाया है। खाड़ी युद्ध और अमेरिका के द्वारा इस क्षेत्र में 500,000 अमेरिकन टुकड़ियों की नियुक्ति ने कुवैत, सऊदी अरब में लोकतंत्र की मांग को बढ़ाया है तथा सद्दाम हुसैन के शासन को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लोकतंत्रीकरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रयास उसकी इच्छा, क्षमता एवं सक्रियता पर निर्भर करते हैं।

   1980 के दशक के अंत में पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी सरकारों के पतन से विश्व के कोने–कोने में लोकतंत्र की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इस परिवर्तन से एकदलीय प्रणाली का मुख्य तार्किक आधार नष्ट हो गया। वहां एकदलीय शासन को इस आधार पर उचित ठहराया जाता था कि सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक नियोजन से उन समस्याओं का हल हो जाता है जो पूंजीवाद के कारण पैदा होती है। तीसरी दुनिया में नागरिक समाज की संस्थाओं ने जैसे मजदूर संघों, ईसाई चर्च तथा बुद्धिजीवियों के संगठनों ने यह तर्क दिया कि जब यूरोप में एकदलीय प्रणाली किसी समस्या को हल नहीं कर पाई, तब उस प्रणाली से क्या आशा की जा सकती है। 1990 के आरंभिक वर्षों में तीसरी दुनिया के देशों में इसे प्रदर्शन वैधता के रूप में जाना जाता है।

2. 1960 के दशक के दौरान तेजी से वैश्विक आर्थिक विकास हुआ। इस आर्थिक विकास के कारण बेहतर मध्यम शिक्षित वर्ग का विकास हुआ जिसने लोकतांत्रिक सुधारों के लिए तेजी से आवाज उठानी शुरू कर दी। हंटिंगटन ने इस बात पर बल दिया है कि आर्थिक विकास सबसे महत्वपूर्ण कारक है जो लोकतंत्रीकरण को प्रेरित करता है। सांस्कृतिक कारक लोकतंत्र के लिए बाधा बन सकते हैं लेकिन संस्कृतियां स्थिर नहीं हैं। वे बदलती रहती हैं और समय के साथ विकसित होती हैं। आर्थिक विकास सांस्कृतिक परिवर्तनों को भी प्रेरित करता है। मध्य आय वाले राज्यों में लोकतांत्रिक सुधारों की शुरुआत करने की सबसे अधिक संभावना है। हंटिंगटन ने इसे राजनीतिक संक्रमण क्षेत्र कहा है। वास्तव में तीसरी लहर मुख्य रूप से इस श्रेणी के देशों पर केंद्रित थी। गरीबी लोकतंत्र के संक्रमण और समेकन दोनों के लिए प्रमुख बाधा है।
3. हंटिंगटन का दावा है कि लोकतंत्र की तीसरी लहर मुख्य रूप से एक कैथोलिक लहर थी (इसमें शामिल देशों के तीन चौथाई लोग कैथोलिक थे)। यूरोप में स्पेन, पुर्तगाल और फिर पोलैण्ड और हंगरी, दक्षिण पूर्व एशिया में फिलीपींस और लैटिन अमेरिकी देश तीसरी लहर के मुख्य क्षेत्र थे। हंटिंगटन इस बात पर बल देता है कि ईसाई सभ्यता मूल्यों के विशेष संयोजन के कारण, इस्लामी और कन्फ्यूशियस संस्कृतियों की तुलना में लोकतंत्र की स्थापना के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं।
4. हंटिंगटन ने चौथा प्रमुख कारक बाह्य अभिकर्ताओं की भूमिका को माना है। यूरोपीय संघ और अमेरिका की भूमिका को इस संदर्भ में महत्वपूर्ण माना है।
5. पांचवें कारक को हंटिंगटन 'स्नोबॉलिंग' कहते हैं। इसका अभिप्राय है क्षेत्रीय आकस्मिकता कारक, जिसे प्रदर्शन प्रभाव के रूप में जाना जाता है, यह तब होता है जब एक देश में लोकतंत्र की सफलता अन्य देशों को लोकतांत्रिक बनाने का कारण बनती है।

   लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर के कारण विश्व में लोकतंत्रीय राजनीतिक प्रणालियों की संख्या बहुत बढ़ गई। 1974 में यह संख्या 44 थी जो कि 1994 में 107 तक पहुंच गई। इस तरह 1994 में विश्व के कुल राज्यों अर्थात 190 राज्यों में से करीब 56 प्रतिशत राज्यों में लोकतांत्रिक प्रणाली स्थापित हो गई। लोकतंत्र के विस्तार का मुख्य क्षेत्र तीसरी दुनिया ही रहा। 1995 तक 23 लैटिन अमेरिकी देश लोकतंत्र को अपना चुके थे। एशिया के सात देशों में लोकतंत्र आ गया जो पहले अलोकतंत्रीय थे। ये देश थे– पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, फिलीपीन, ताइवान, दक्षिण कोरिया और मंगोलिया। अफ्रीका में 1980 के दशक के अंतिम वर्षों से लेकर 1990 के दशक के मध्य तक करीब 50 देशों में से आधे से ज्यादा देशों में लोकतंत्रीय चुनाव कराये गये। केवल मध्यपूर्व में लोकतंत्रीय प्रणाली की बहुत कम प्रगति हो पाई। हालांकि इस संदर्भ में कई उदाहरण सामने भी आए– जैसे लेबनान में बीस वर्ष के गृहयुद्ध के बाद फिर से लोकतंत्र

स्थापित हुआ और जॉर्डन में भी लोकतंत्र की जड़ें गहरी हुईं। परंतु कहीं–कहीं लोकतंत्र को धक्का भी लगा है। 1999 में पाकिस्तान में सैनिक शासन स्थापित हुआ और 2000 में फिजी में जनजातीय नेताओं ने विद्रोह करके लोकतंत्र को धराशायी कर दिया।

लोकतंत्रीकरण की बाधायें

विश्व में लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के विस्तार के संदर्भ में निम्न बाधाओं को देखा जा सकता है–

1. सोवियत यूनियन सहित कई देशों में मार्क्सवादी–लेनिनवादी व्यवस्थाएं, जहां 1980 वृहत स्तर पर उदारीकरण और कई गणराज्यों में लोकतंत्रीय आंदोलन भी चले।
2. उपसहारा अफ्रीकी देशों में, कुछ अपवादों के अलावा, व्यक्तिगत तानाशाही, सैनिक शासन, एकदलीय व्यवस्था या तीनों कारकों का एक दूसरे के साथ उपस्थित होना।
3. मोरक्को से लेकर इंडोनेशिया तक इस्लामिक शासन की स्थापना। तुर्की और पाकिस्तान को छोड़कर अधिकांशतः अलोकतांत्रिक व्यवस्थाएं थीं।
4. चीन, उत्तरी कोरिया जैसे साम्यवादी शासन, थाइलैण्ड, मलेशिया जैसे अर्द्धलोकतांत्रिक देश, लोकतंत्रीकरण की बाधायें हैं।

लोकतंत्रीकरण की बाधाओं को हम राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूपों में देख सकते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

7. 'द थर्ड वेब : डेमोक्रेटाइजेशन इन द लेट ट्वेंटिएथ सेंचुरी' के लेखक कौन थे?

   (क) जॉन डब्ल्यू. मेयर (ख) ब्रायन रोबन

   (ग) सैमुअल हंटिंगटन (घ) पाल बर्न

8. हंटिंगटन ने कितने कारकों को लोकतंत्र की तीसरी लहर का कारण माना है?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) चार (घ) पांच

9. वैश्विक आर्थिक वृद्धि से जीवन स्तर एवं शिक्षा का विस्तार होने से मध्यम वर्ग का विकास कब हुआ?

   (क) 1960 (ख) 1970

   (ग) 1980 (घ) 1990

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ख)
4. (क)
5. (ग)
6. (ख)
7. (ग)
8. (घ)
9. (क)

5.6 सारांश

समकालीन तुलनात्मक राजनीति में राजनीतिक संस्थाओं का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में अध्ययन किया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी क्रान्ति ने संस्थाओं के मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया लेकिन 1970–80 के दशकों में नव संस्थावादी लेखकों ने राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर बल देते हुए यह तर्क रखा कि वैयक्तिक राजनीतिक अभिकर्ताओं के व्यवहार को समझने के लिए संस्थागत विश्लेषण आवश्यक है।

परंपरागत रूप से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन औपचारिक एवं कानूनी रूप से किया जाता रहा। राज्य और शासन अध्ययन के प्रमुख विषय थे। शासन या सरकार स्वयं एक संस्था है और इसके विभिन्न अंग जैसे कि संसद यानी कि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका इत्यादि भी अपनी–अपनी तरह की संस्थाएं हैं। राजनीतिक दल वैसे तो गैरसरकारी संगठन हैं, परंतु वे राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरी ओर अधिकारी तंत्र और गैर राजनीतिक संगठन है, परंतु वह सरकार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व संस्थाओं का कानूनी औपचारिक अध्ययन किया जाता था लेकिन नव संस्थावाद में यह माना जाता है कि संस्थाएं मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं इसलिए राजनीतिक अभिकर्ताओं के व्यवहार को समझने के लिए संस्थाओं का विश्लेषण आवश्यक है। राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से संबंधित इस नये दृष्टिकोण को नवसंस्थावाद के रूप में जाना है।

नव सामाजिक आंदोलन और लोकतंत्रीकरण का विस्तार वर्तमान राजनीतिक विश्लेषण के मुख्य विषय हैं। नव सामाजिक आंदोलन स्थानीय स्वायत्तता, सांस्कृतिक परिवर्तन, पहचान का संकट इत्यादि विषयों से जुड़े हैं जिनका संबंध राजनीति के बजाय सामाजिक परिवर्तनों से ज्यादा है। नवसामाजिक आंदोलन जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने और मानव मात्र के कल्याण से संबंधित है।

1960–70 के दशक के प्रारंभ में सामाजिक आंदोलनों की नई लहर दिखाई देती है– यह वह समय था जब संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में सेनाएं वियतनाम में भूतपूर्व फ्रांसीसी उपनिवेश में साम्यवादी गुरिल्लाओं के विरुद्ध एक खूनी संघर्ष में लगी हुई थीं। यूरोप में, पेरिस विद्यार्थियों के जीवंत आंदोलन का केंद्र था जो युद्ध के विरुद्ध हड़तालों की एक श्रृंखला में कामगारों के दलों में सम्मिलित हो गये। अटलांटिक के दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका सामाजिक विरोध के उदय का अनुभव कर रहा था। मार्टिन लूथर किंग द्वारा चलाये गये आंदोलन के बाद मैलकम अश्वेत शक्ति आंदोलन चलाया गया। महिलाओं का आंदोलन तथा पर्यावरण आंदोलन से भी सामाजिक उथल–पुथल को बल मिला।

समकालीन राजनीतिक विश्लेषण में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में राजनीतिक सहभागिता, लोकतंत्र का विस्तार इत्यादि अध्ययन के प्रमुख तत्व हैं। इस संदर्भ में हंटिंगटन ने विश्व में लोकतंत्रीय प्रणाली के विस्तार का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसे उसने लोकतंत्र की तीसरी लहर का नाम दिया है।

लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर के कारण विश्व में लोकतंत्रीय राजनीतिक प्रणालियों की संख्या बहुत बढ़ गई। 1974 में यह संख्या 44 थी जो कि 1994 में 107 तक पहुंच गई। इस तरह 1994 में विश्व के कुल राज्यों अर्थात 190 राज्यों में से करीब 56 प्रतिशत राज्यों में लोकतांत्रिक प्रणाली स्थापित हो गई। लोकतंत्र के विस्तार का मुख्य क्षेत्र तीसरी दुनिया ही रहा। 1995 तक 23 लैटिन अमेरिकी देश लोकतंत्र को अपना चुके थे। एशिया के सात देशों में लोकतंत्र आ गया जो पहले अलोकतंत्रीय थे। ये देश थे– पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, फिलीपीन, ताइवान, दक्षिण कोरिया और मंगोलिया। अफ्रीका में 1980 के दशक के अंतिम वर्षों से लेकर 1990 के दशक के मध्य तक करीब 50 देशों में से आधे से ज्यादा देशों में लोकतंत्रीय चुनाव कराये गये। केवल मध्यपूर्व में लोकतंत्रीय प्रणाली की बहुत कम प्रगति हो पाई।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **अधिकारी तंत्र** : शासन के स्थायी अधिकारियों का समूह और उनका प्रशासनिक ढांचा जो सार्वजनिक नीतियों को क्रियान्वित करता है।
- **गैर सरकारी संगठन** : वह संस्था जो सरकार का भाग न हो तथा न उसके अधीन हो।
- **व्यवहारवाद** : राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का ऐसा तरीका जो मुख्यतया अपना ध्यान राजनीतिक व्यवहार पर केंद्रित करता है।
- **वर्चस्व** : श्रेष्ठ या मुख्य होने की अवस्था या भाव।
- **उपभोक्तावादी समाज** : एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें उपभोग करने को वरीयता दी जाती है।
- **भौतिकवाद** : एक ऐसा सिद्धांत जिसके अनुसार केवल पदार्थ या भौतिक वस्तु ही सत्य या यथार्थ है।
- **ग्रासरूट** : जमीनी स्तर पर।

- **राजनीतिक सहभागिता** : राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर व्यक्तियों द्वारा भाग लेने को राजनीतिक सहभागिता कहते हैं।
- **औपचारिक समूह** : ऐसे समूह जो निश्चित नियमों, विधियों और आचरणों का पालन करते हैं।
- **आकांक्षाओं** : इच्छाओं।
- **कट्टरवाद** : रूढ़िवादी ढंग से किसी मत को मानने का सिद्धांत।
- **यूरोपीय समुदाय या संघ** : द्वितीय विश्व युद्ध के बाद गठित यूरोपीय देशों का एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन जो व्यापार बाधाओं को कम करने और अपने सदस्य देशों के बीच सहयोग बढ़ाने के लिए स्थापित किया गया था।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक संस्थाओं से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिये।
2. नवसंस्थावाद पर टिप्पणी लिखिये।
3. नव सामाजिक आंदोलनों की विशेषतायें बताइये।
4. लोकतंत्रीकरण की तीसरी लहर के संदर्भ में हंटिंगटन द्वारा बताये गये पांच प्रमुख कारकों का विश्लेषण कीजिये।
5. लोकतंत्रीकरण की प्रमुख बाधायें क्या है?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक संस्थाओं के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. नव सामाजिक आंदोलन पर एक निबंध लिखिये।
3. लोकतांत्रिक विस्तार के संबंध में हंटिंगटन के विचारों का विश्लेषण कीजिये।
4. नवसंस्थावाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
5. लोकतांत्रिक विस्तार की तीनों लहरों की विवेचना कीजिये।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. गाबा, ओमप्रकाश, 'तुलनात्मक राजनीति की रूपरेखा', मयूर पेपर बैक्स, नोएडा
2. हंटिंगटन एस, डेमोक्रेसी की तीसरी लहर, जनरल ऑफ डेमोक्रेसी, वोल्यूम 2, नं. 2, स्प्रिंग, 1991
3. वर्मा, एस. एल., 'समकालीन राजनीतिक चिंतन, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
4. शर्मा, प्रभुदत्त, "तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें" कालेज बुक डिपो, जयपुर।
5. जौहरी, जे.सी. "तुलनात्मक राजनीति" स्टर्लिंग पब्लिशर्स नई दिल्ली।